

## विषयानुक्रमणिका

क्र०	विषय	पृष्ठ संख्या से-तक
क.	संकेत विवरण	६
ख.	भूमिका	७-२६
१.	अमृतनादोपनिषद्	२७-३३
२.	ईशावास्योपनिषद्	३४-३७
३.	एकाक्षरोपनिषद्	३८-४०
४.	ऐतरेयोपनिषद्	४१-४९
५.	कठोपनिषद्	५०-६९
६.	केनोपनिषद्	७०-७४
७.	गायत्र्युपनिषद्	७५-८२
८.	छान्दोग्योपनिषद्	८३-१९६
९.	तैत्तिरीयोपनिषद्	१९७-२१३
१०.	नादबिन्दूपनिषद्	२१४-२२१
११.	निरालम्बोपनिषद्	२२२-२२६
१२.	प्रणवोपनिषद्	२२७-२२८
१३.	प्रश्नोपनिषद्	२२९-२४०
१४.	बृहदारण्यकोपनिषद्	२४१-३५७
१५.	मन्त्रिकोपनिषद्	३५८-३६०
१६.	माण्डूक्योपनिषद्	३६१-३६३
१७.	मुण्डकोपनिषद्	३६४-३७४
१८.	मुदगलोपनिषद्	३७५-३८१
१९.	मैत्रायण्युपनिषद्	३८२-३९७
२०.	शिवसंकल्पोपनिषद्	३९८-३९८
२१.	शुकरहस्योपनिषद्	३९९-४०६
२२.	श्वेताश्वतरोपनिषद्	४०७-४२४
२३.	सर्वसारोपनिषद्	४२५-४२८
२४:	स्कन्दोपनिषद्	४२९-४३०
ग.	परिशिष्ट	
	१. परिभाषा कोश	४३१-४८८
	२. मन्त्रानुक्रमणिका	४८९-५१२

## संकेत विवरण

अक्षि०	- अक्षयुपनिषद्	तै०ब्रा०	- तैत्तिरीय ब्राह्मण	मुक्ति०	- मुक्तिकोपनिषद्
अथर्व०	- अथर्ववेद	तै० सं०	- तैत्तिरीय संहिता	मुण्ड०	- मुण्डकोपनिषद्
अध्या०	- अध्यात्मोपनिषद्	त्रि०म०	- त्रिपादविभूति-	मुद्र०	- मुद्रलोपनिषद्
अ०प०	- अप्रपूर्णोपनिषद्		महानारायणोपनिषद्	मैत्रा०	- मैत्रायण्युपनिषद्
अमृ०	- अमृतनादोपनिषद्	त्रि०ता०	- त्रिपुरा तापिन्युपनिषद्	मैत्रे०	- मैत्रेयुपनिषद्
अव्य०	- अव्यक्तोपनिषद्	दे०भा०	- देवी भागवत	मै०ब्रा०	- मैत्रायणी ब्राह्मण
अ०शिर०	- अथर्वशिरोपनिषद्	द्र०	- द्रष्टव्य	यजु०	- यजुर्वेद
अष्टा०	- अष्टाध्यायी	ध्या० बि०	- ध्यानबिन्दूपनिषद्	या० स्म०	- याज्ञवल्क्य स्मृति
आत्मो०	- आत्मोपनिषद्	ना०प०	- नारदपरिव्राजकोपनिषद्	यो०कु०	- योगकुण्डल्युपनिषद्
आ०बो०	- आत्मबोधोपनिषद्	ना०पु०	- नारदीय पुराण	यो० चू०	- योगचूडामण्युपनिषद्
आ०	- आरुणिकोपनिषद्	ना०बि०	- नादबिन्दूपनिषद्	यो० त०	- योगतत्त्वोपनिषद्
आश्र०	- आश्रमोपनिषद्	नारा०	- नारायणोपनिषद्	यो०द०	- योगदर्शन
आ०श्रौ०	- आश्वलायन श्रौतसूत्र	निरा०	- निरालम्बोपनिषद्	यो०शि०	- योगशिखोपनिषद्
ईश०	- ईशाकास्योपनिषद्	निरु०	- निरुक्त	रा०उ०	- रामोत्तरतापिन्युपनिषद्
ऋ०	- ऋषवेद	नृ०उ०	- नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्	रा०मा०	- रामचरित मानस
एका०	- एकाक्षरोपनिषद्	न्या०द०	- न्याय दर्शन	रा०र०	- राम रहस्योपनिषद्
ऐत०	- ऐतरेयोपनिषद्	पंच०	- पंचदशी	वा०च०	- वाचस्पत्यम्
ऐ०ब्रा०	- ऐतरेय ब्राह्मण	पं० ब्र०	- पंच ब्रह्मोपनिषद्	वा०रा०	- वाल्मीकि रामायण
कठ०	- कठोपनिषद्	पं०प०	- परमहंस-	वि०चू०	- विवेक चूडामणि
क०रु०	- कठरुद्रोपनिषद्		परिव्राजकोपनिषद्	वे०परि०	- वेदान्त परिभाषा
कलिस०	- कलिसंतरणोपनिषद्	प०पु०	- पद्मपुराण	वे०सा०	- वेदान्त सार
काठ०सं०	- काठक संहिता	पैंग०	- पैंगलोपनिषद्	वै०द०	- वैशेषिक दर्शन
का०श्रौ०	- कात्यायन श्रौतसूत्र	प्रण०	- प्रणवोपनिषद्	शत०ब्रा०	- शतपथ ब्राह्मण
कु०सं०	- कुमार संभव	प्रश्व०	- प्रश्वोपनिषद्	शब्द०	- शब्दकल्पद्रुम
कृष्ण०	- कृष्णोपनिषद्	बह०	- बहूचोपनिषद्	शां० प०	- शांतिपर्व
केन०	- केनोपनिषद्	बृह०	- बृहदारण्यकोपनिषद्	शि०सं०	- शिवसंकल्पोपनिषद्
कौ०ब्रा०	- कौशीतकि ब्राह्मणोपनिषद्	ब्र०वि०	- ब्रह्मबिन्दूपनिषद्	शु०र०	- शुकरहस्योपनिषद्
गाय०	- गायत्र्युपनिषद्	ब्र०वै०पु०	- ब्रह्मवैवर्तपुराण	श्वेता०	- श्वेताश्वतरोपनिषद्
गै०	- श्रीमद्भगवद्गीता	ब्र०सू०	- ब्रह्मसूत्र	षड०ब्रा०	- षड्विंश ब्राह्मण
गो०उ०	- गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्	ब्रह०	- ब्रह्मोपनिषद्	संन्या०	- संन्यासोपनिषद्
गो० ब्रा०	- गोपथ ब्राह्मण	ब्रहा०पु०	- ब्रह्माण्ड पुराण	संहि०	- संहितोपनिषद्
चांनी०	- चाणक्य नीति	भा० पु०	- भागवत पुराण	स०सा०	- सर्वसारोपनिषद्
छान्दो०	- छान्दोर्योपनिषद्	मन्त्रि०	- मन्त्रिकोपनिषद्	सां०द०	- सांख्यदर्शन
जावा०	- जावालोपनिषद्	म०स्म०	- मनु स्मृति	सु० का०	- सुंदरकांड
जैमि०	- जैमिनीयोपनिषद्	महा०	- महाभारत	सूर्यो०	- सूर्योपनिषद्
जै० ब्रा०	- जैमिनीय ब्राह्मण	महाना०	- महानारायणोपनिषद्	स्क०	- स्कंदोपनिषद्
तै०बि०	- तैजोबिन्दूपनिषद्	महो०	- महोपनिषद्	स्क० पु०	- स्कन्दपुराण
तै०आ०	- तैत्तिरीय आरण्यक	माण्ड०	- माण्डूक्योपनिषद्	ह०को०	- हलायुध कोश
तैत्ति०	- तैत्तिरीयोपनिषद्	मी० द०	- मीमांसा दर्शन	ह० प्र०	- हठयोग प्रदीपिका

## भूमिका

‘वेद’ का अर्थ ‘बोध’ या ‘ज्ञान’ है। विद्वानों ने संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् इन चारों के संयोग को समग्र वेद कहा है। उपनिषद् को वेद का शीर्ष भाग कहा गया है, वेदान्त कहा गया है; क्योंकि यह वेदों का अन्तिम (सर्वश्रेष्ठ) भाग है। भारतीय दर्शन जगत् में प्रसिद्ध ‘प्रस्थान-त्रयी’ के उपनिषद् आदिम ग्रन्थ हैं तथा अन्य दोनों गीता और ब्रह्मसूत्र के उपजीव्य (आश्रयी भूत)। इसे आध्यात्मिक मानसरोवर कहा जा सकता है, जिससे विनिःसृत ज्ञान की सरिताएँ इस पुण्य भूमि में मानव मात्र के अभ्युदय (भौतिक उत्तरि) एवं निःश्रेयस (आध्यात्मिक कल्प्याण) के लिए प्रवहमान हैं।

‘उपनिषद्’ का भाव- इसमें ‘उप’ और ‘नि’ उपर्सर्ग हैं। ‘सद्’ धातु ‘गति’ के अर्थ में प्रयुक्त होती है। ‘गति’ शब्द का उपयोग ज्ञान, गमन और प्राप्ति इन तीन संदर्भों में होता है। यहाँ प्राप्ति अर्थ अधिक उपयुक्त है। “उप सामीप्येन, निनितरां, प्राप्नुवन्ति परं ब्रह्म यथा विद्यया सा उपनिषद्।” अर्थात् जिस विद्या के द्वारा परब्रह्म का सामीप्य एवं तादात्म्य प्राप्त किया जाता है, वह ‘उपनिषद्’ है।

दूसरे शब्दों में ‘उप’ + ‘नि’ इन दो उपर्सर्गों के साथ ‘सद्’ धातु से ‘क्विप्’ प्रत्यय के प्रयोग से ‘उपनिषद्’ शब्द बना है। ‘सद्’ धातु के तीन अर्थ मान्य हैं- (१) विशरण (विनाश) (२) गति (ज्ञान और प्राप्ति) (३) अवसादन (शिथिल करना), इस आधार पर ‘उपनिषद्’ का अर्थ हुआ- “जो पाप-ताप का नाश करे, सच्चा ज्ञान प्रदान करे, आत्मा

की प्राप्ति कराये और अज्ञान- अविद्या को शिथिल करे, वह उपनिषद् है।”

अष्टाध्यायी (१.४.७९) में जीविकोपनिषदा-वौपस्ये सूत्रानुसार उपनिषद् शब्द परोक्ष या रहस्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में युद्ध काल के गुप्त प्रयोगों की चर्चा में औपनिषद प्रयोग शब्द व्यवहृत हुआ है। इससे यह प्रकट होता है कि उपनिषद् का तात्पर्य रहस्य भी है।

अमरकोष (३. ९९) में भी आता है- “धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्” अर्थात् उपनिषद् शब्द गूढ़ धर्म एवं रहस्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस आधार पर उपनिषद् को परोक्ष या रहस्यमय ज्ञान के स्रोत भी कह सकते हैं।

विद्वानों ने ‘उपनिषद्’ शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार भी मानी है- उप (सामीप्य अथवा व्यवधान रहित), नि (विशिष्ट या सम्पूर्ण), सद् (ज्ञान या बोध) अर्थात् ‘सामीप्य द्वारा प्राप्त विशिष्ट बोध अथवा व्यवधान रहित सम्पूर्ण ज्ञान।’ उपनिषदों में जिस ज्ञान की अभिव्यक्ति हुई है, उसे निश्चित रूप से उक्त विशेषणों से युक्त कहा जा सकता है।

एक मत यह भी है- ‘उपनिषद्यते प्राप्यते ब्रह्मात्मभावोऽनया इति उपनिषद्।’ जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सके, वह उपनिषद् है। तात्पर्य यह है कि उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान का ही प्रधानता से विवेचन हुआ है, जिससे उपनिषदों को अध्यात्म विद्या भी कहा जाता है। ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, तत्त्वज्ञान और ब्रह्मविद्या-ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने उपनिषदों की महत्ता मुक्त कंठ से स्वीकार की है।

## उपनिषदों की महत्ता

स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक प्रवचन में कहा था - “मैं उपनिषदों को पढ़ता हूँ, तो मेरे आँसू बहने लगते हैं। यह कितना महान् ज्ञान है? हमारे लिए यह आवश्यक है कि उपनिषदों में सन्त्रिहित तेजस्विता को अपने जीवन में विशेष रूप से धारण करें। हमें शक्ति चाहिए। शक्ति के बिना काम न चलेगा। यह शक्ति कहाँ से प्राप्त हो? उपनिषदें ही शक्ति की खानें हैं, उनमें ऐसी शक्ति भरी पड़ी है, जो सम्पूर्ण विश्व को बल, शौर्य एवं नवजीवन प्रदान कर सकें। उपनिषदें किसी भी देश, जाति, मत, सम्प्रदाय का भेद किये बिना हर दीन, दुर्बल, दुःखी और दलित प्राणी को पुकार-पुकार कर कहती हैं- उठो, अपने पैरों खड़े हो जाओ और बन्धनों को काट डालो। शारीरिक स्वाधीनता, मानसिक स्वाधीनता, आध्यात्मिक स्वाधीनता, यही उपनिषदों का मूल मन्त्र है।”

स्वामी विवेकानन्द जी ने उपनिषद्-ज्ञान की आवश्यकता को न केवल ब्रह्म प्राप्ति के लिए ही, अपितु दैनिक जीवन के लिए भी उपयोगी बतलाया है। उनका कथन है कि उपनिषदें वह शक्ति प्रदान करती हैं, जिसके द्वारा मनुष्य जीवन-संग्राम का धैर्य तथा साहस से मुकाबला करता है। जीवन का प्रत्येक क्षेत्र चाहे वह आध्यात्मिक हो या भौतिक दोनों में उपनिषदें अत्यन्त आवश्यक हैं।

विश्व कवि रवीन्द्रनाथ जी ने कहा है- ‘चक्षु सम्पन्न व्यक्ति देखेंगे कि भारत का ब्रह्मज्ञान समस्त पृथिवी का धर्म बनने लगा है। प्रातः कालीन सूर्य की अरुणिम किरणों से पूर्व-दिशा आलोकित होने लगी है; परन्तु जब वह सूर्य मध्याह्न गगन में प्रकाशित होगा, तब उस समय उसकी दीप्ति से समग्र भूमण्डल दीप्तिमय हो उठेगा।’

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन का कथन है- ‘उपनिषदों को जो भी मूल संस्कृत में पढ़ता है, वह

मानव-आत्मा और परम सत्य के गुह्य और पवित्र सम्बन्धों को उजागर करने वाले उनके बहुत से उद्गारों के उत्कर्ष काव्य और प्रबल सम्मोहन से मुग्ध हो जाता है और उसमें बहने लगता है।’

अपनी ‘उपनिषद् एक अध्ययन’ पुस्तक की प्रस्तावना में सन्त विनोबा ने लिखा है- “उपनिषदों की महिमा अनेकों ने गायी है। कवि ने कहा है कि ‘हिमालय जैसा पर्वत नहीं और उपनिषदों जैसी कोई पुस्तक नहीं।’ परन्तु मेरी दृष्टि में उपनिषद् पुस्तक है ही नहीं, वह तो एक दर्शन है। उस दर्शन को यद्यपि शब्दों में अंकित करने का प्रयत्न किया गया है, फिर भी शब्दों के कदम लड़खड़ा गये हैं; सिर्फ निष्ठा के चिह्न उभरे हैं। उस निष्ठा को शब्दों की सहायता से हृदय में भरकर शब्दों को दूर हटाकर अनुभव किया जाए, तभी उपनिषदों का बोध हो सकता है। मेरे जीवन में गीता ने माँ का स्थान लिया है। वह स्थान तो उसी का है; लेकिन मैं जानता हूँ कि उपनिषद् मेरी माँ की माँ है। उसी श्रद्धा से मेरा उपनिषदों का मनन, निदिध्यासन पिछले बत्तीस वर्षों से चल रहा है।”

इन मन्त्रों में प्रयुक्त हुए कठिन शब्दों को देखकर ऐसा लगता है कि यह ज्ञान केवल एकान्त सेवी सन्त-महात्माओं के लिए ही व्यवहार में आने योग्य है। साधारण स्थिति के गृहस्थ अपनी विषम परिस्थितियों के कारण इसे जीवन में उतार न सकेंगे, पर वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। जितना यह ज्ञान कठिन है, उतना ही सरल भी है। जिस प्रकार पानी में तैरना कठिन दिखाई पड़ता है, उसमें दुर्घटना की आशंका भी प्रतीत होती है; किन्तु जब सच्ची लगन होती है और प्रयत्न पूर्वक अभ्यास किया जाता है, तो वह कठिन कार्य सरल बन जाता है। इसी प्रकार उपनिषदों में जिस ब्रह्मविद्या का उल्लेख हुआ है, वह भी सरल है, कठिन तो वह उन्हें ही दीखती है,

जो उससे दूर रहते हैं, दूर से देखते हैं। भीतर प्रवेश करने का साहस करने पर वह सरल ही है। जितनी सरल है, उतनी ही कल्याणकारक भी है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय के शब्दों में - 'भारतीय तत्त्वज्ञान तथा धर्म-सिद्धान्तों के मूल स्रोत होने का गौरव इन्हीं उपनिषदों को प्राप्त है। उपनिषद् वस्तुतः वह आध्यात्मिक मानसरोवर है, जिससे ज्ञान की भिन्न-भिन्न सरितायें निकलकर इस पुण्य भूमि में मनव मात्र के ऐहिक कल्याण तथा आमुष्मिक मंगल के लिए प्रवाहित होती हैं। वैदिक धर्म की मूल-तत्त्व-प्रतिपादिका प्रस्थानत्रयी में मुख्य उपनिषद् ही हैं। अन्य प्रस्थान-गीता तथा ब्रह्मसूत्र- उसी के

ऊपर आश्रित हैं।' भारतवर्ष में उदय होने वाले समस्त दर्शनों का - सांख्य तथा वेदान्त आदि का ही यह मूल ग्रन्थ नहीं है, अपितु जैन तथा बौद्ध दर्शनों के भी मौलिक तथ्यों की आधारशिला यही है। उपनिषद् का इसीलिए भारतीय संस्कृति से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। इनके अध्ययन से इस संस्कृति के आध्यात्मिक रूप का सच्चा परिचय हमें उपलब्ध होता है। इसीलिए जब से किसी विदेशी विद्वान् को इसके पढ़ने तथा मनन करने का अवसर मिला है, तब से वह इनकी समुन्नत विचारधारा, उदात्त चिंतन, धार्मिक अनुभूति तथा आध्यात्मिक जगत् की रहस्यमयी अभिव्यक्तियों की शतमुख से प्रशंसा करता आया है।'

## पाश्चात्य विद्वानों पर प्रभाव

वेदान्त दर्शन की महिमा पर मुग्ध होने वाले विदेशी विद्वानों में सबसे पहले अरबदेशीय विद्वान् अलबरल्नी थे। वे ११वीं (यागहर्णी) शताब्दी में भारत आये थे। यहाँ आकर उन्होंने संस्कृत भाषा का अध्ययन किया और उपनिषदों की सारस्वरूपा गीता पर वे गटू हो गये। यह ज्ञात नहीं है कि इन्होंने उपनिषदों का अध्ययन किया था या नहीं; लेकिन गीता की जो प्रशंसा उन्होंने की है, उसे उपनिषदों की ही प्रशंसा समझनी चाहिए।

वैदिक साहित्य के साथ पाश्चात्य विद्वानों का प्रथम परिचय उपनिषदों के माध्यम से ही हुआ। सप्तांश शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह अपनी धर्म सम्बन्धी उदारता के लिए भारत के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। सन् १६४० ईस्वी में जब दारा कश्मीर में थे, तब उन्हें सर्वप्रथम उपनिषदों की महिमा का पता लगा। उन्होंने काशी से पण्डितों को बुलाया और उनकी सहायता से पचास उपनिषदों का फारसी में अनुवाद किया। १६५७ ईस्वी में यह अनुवाद पूरा हुआ। इसके प्रायः तीन वर्ष के बाद सन् १६५९ ईस्वी में औरंगजेब के द्वारा दाराशिकोह मारे गये।

अकबर के समय में भी (१५७६-१५८५) कुछ उपनिषदों का अनुवाद हुआ था; परन्तु अकबर

अथवा दारा द्वारा सम्पादित इन अनुवादों के प्रति सन् १७७५ ईस्वी से पहले तक किन्हीं भी पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि आकर्षित नहीं हुई। अयोध्या के नवाब सुजाउद्दौला की राजसभा के फारसी रेजिडेंट श्री एम० गेंटिल ने सन् १७७५ में प्रसिद्ध यात्री एंक्रेटिल डुपेरेन (Anquetil Duperron) को दाराशिकोह के द्वारा सम्पादित उक्त फारसी अनुवाद की एक पाण्डुलिपि भेजी। एंक्रेटिल डुपेरेन ने कहीं से एक दूसरी पाण्डुलिपि प्राप्त की और दोनों को मिलाकर फ्रेंच तथा लैटिन भाषा में उस फारसी अनुवाद का पुनः अनुवाद किया। लैटिन अनुवाद सन् १८०१-१८०२ में 'ऑपनेखत' (OUPNE KHAT) नाम से प्रकाशित हुआ। फ्रेंच अनुवाद नहीं छपा।

उक्त लैटिन अनुवाद के प्रकाशित होने पर पाश्चात्य पण्डितों की दृष्टि इधर कुछ आकर्षित तो हुई, किन्तु अनुवाद का अनुवाद होने के कारण वह इतना अस्पष्ट और दुर्बोध हो गया था कि उसका मर्म समझकर रसास्वादन करना सहज नहीं था। जर्मनी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक श्री अर्थर शोपेन हॉवर ने (सन् १७८८-१८६०) बहुत कठिन परिश्रम करके

उक्त अनुवाद का अध्ययन किया और मुक्त कण्ठ से यह घोषणा की, कि 'मेरा अपना दार्शनिक मत उपनिषद् के मूल तत्त्वों के द्वारा विशेष रूप से प्रभावित है।' इस प्रसंग में मनीषी शोपेन हॉवर ने उपनिषद् के महत्त्व और प्रभाव के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह विशेष ध्यान देने योग्य है-

'मैं समझता हूँ कि उपनिषद् के द्वारा वैदिक साहित्य के साथ परिचय लाभ होना वर्तमान शताब्दी (१८८८) का सबसे अधिक परम लाभ है, जो इसके पहले किन्हीं भी शताब्दियों को नहीं मिला। मुझे आशा है, १४ वीं शताब्दी में ग्रीक साहित्य के पुनरभ्युदय से यूरोपीय साहित्य की जो उन्नति हुई थी, संस्कृत साहित्य का प्रभाव उसकी अपेक्षा कम फल उत्पन्न करने वाला नहीं होगा। यदि पाठक प्राचीन भारतीय विद्या में दीक्षित हो सके और गम्भीर उदारता के साथ उसे ग्रहण कर सके, तो मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, उसे वे अच्छी तरह समझ सकेंगे। उपनिषद् में सर्वत्र कितनी सुन्दरता के साथ वेदों के भाव प्रकाशित हैं, जो कोई भी उक्त फारसी-लैटिन अनुवाद का, ध्यान देकर अध्ययन करके उपनिषद् की अनुपम भावधारा से परिचित होगा, उसी की आत्मा के गम्भीरतम प्रदेश तक मैं एक हलचल मच जाएगी। एक-एक पंक्ति कितना दृढ़, सुनिर्दिष्ट और सुसमज्जस अर्थ प्रकट कर रही है। प्रत्येक वाक्य से कितना गम्भीरता पूर्ण विचार समूह प्रकट हो रहा है, सम्पूर्ण ग्रन्थ कैसे उच्च, पवित्र और ऐकान्तिक भावों से ओतप्रोत है। सारे पृथ्वी मण्डल में मूल उपनिषद् के समान इतना फलोत्पादक और उच्च भावोद्दीपक ग्रन्थ कहीं भी नहीं है। इसने मुझको जीवन में शान्ति प्रदान की है और मरण में भी यह शान्ति देगा।'

शोपेन हॉवर ने अन्यत्र कहा था- "भारत में हमारे धर्म की जड़ें कभी नहीं गड़ेंगी। मानव जाति की 'पुराणी प्रज्ञा' गैलीलियो की घटनाओं से कभी निराकृत नहीं होगी। वरन् भारतीय प्रज्ञा की धारा

यूरोप में प्रवाहित होगी एवं हमारे ज्ञान और विचार में आमूल परिवर्तन ला देगी।" उनकी यह भविष्यवाणी सफल हुई। स्वामी विवेकानन्द की अमेरिकन शिष्या "साराबुल" ने अपने एक पत्र में लिखा था कि "जर्मनी का दार्शनिक सम्प्रदाय, इंग्लैण्ड के प्राच्य पण्डित और हमारे अपने देश के एमरसन आदि साक्षी दे रहे हैं कि पाश्चात्य विचार आजकल सचमुच ही वेदान्त के द्वारा अनुप्राणित हैं।" कहते हैं कि शोपेन हॉवर की मेज पर उपनिषदों की एक लैटिन प्रति हमेशा रहती थी और वे सोने से पहले उसमें से ही अपनी प्रार्थनाएँ किया करते थे। शोपेन हॉवर ने उपनिषदों के सम्बन्ध में लिखा है- "उपनिषदों के प्रत्येक वाक्य में से गहन, मौलिक और उदात्त विचार फूटते हैं और सभी कुछ एक उच्च, पवित्र और एकाग्र भावना से व्यास हो जाता है। समस्त संसार में उपनिषदों जैसा कल्याणकारी और आत्मा को उन्नत करने वाला कोई और ग्रन्थ नहीं है। ये सर्वोच्च प्रतिभा के प्रसून हैं। देर-सबेर ये लोगों की आस्था का आधार बनकर रहेंगे।"

सन् १८४४ में बर्लिन में श्री शेलिंग महोदय की उपनिषद् सम्बन्धी व्याख्यान माला को सुनकर प्रसिद्ध पाश्चात्य पण्डित मैक्समूलर का ध्यान सबसे पहले संस्कृत साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ। उपनिषदों के सम्बन्ध में विचार आरम्भ करते ही उन्होंने अनुभव किया कि उपनिषदों का यथार्थ मर्म समझने के लिए पहले उनसे पूर्व रचित वेद-मन्त्र और ब्राह्मण भाग पर विचार करना आवश्यक है। इस प्रकार उपनिषदों से उन्होंने वेद चर्चा के लिए प्रेरणा प्राप्त की।

शोपेन हॉवर के बाद अनेकों पाश्चात्य विद्वानों ने उपनिषद् पर विचार करके विभिन्न प्रकार से उसकी महिमा गायी है। किसी- किसी ने तो उपनिषद् को 'मानव चेतना का सर्वोच्च फल' बतलाया है। स्वनामध्य वेदज्ञ मैक्समूलर ने एक स्थान पर लिखा है कि 'यदि शोपेन हॉवर के इन (उपनिषद् सम्बन्धी)

शब्दों के लिए किसी समर्थन की आवश्यकता हो, तो मैं अपने जीवन भर के अध्ययन के आधार पर प्रसन्नता पूर्वक अपना समर्थन देंगा। उन्होंने अपनी पुस्तक “India what can it teach us” में लिखा है-

“मृत्यु के भय से बचने, मृत्यु के लिए पूरी शक्ति से तैयारी करने और सत्य को जानने के इच्छुक जिज्ञासु के लिए उपनिषदों के अतिरिक्त और कोई श्रेष्ठ मार्ग मेरी दृष्टि में नहीं है। उपनिषदों के ज्ञान से मुझे अपने जीवन के उत्कर्ष में भारी सहायता मिली है। मैं उनका ऋणी हूँ। ये उपनिषदें आत्मिक उन्नति के लिए विश्व के धार्मिक साहित्य में अत्यन्त सम्मानास्पद रही हैं और आगे सदा रहेंगी। यह ज्ञान, महान् मनीषियों की महान् प्रज्ञा का परिणाम है। एक न एक दिन भारत की यह श्रेष्ठ विद्या यूरोप में प्रकाशित होगी और तब हमारे ज्ञान एवं विचारों में महान् परिवर्तन उपस्थित होगा।”

“Dogmas of Budhism” नामक ग्रन्थ के लेखक श्रीह्यम ने लिखा है- सुकरात, अरस्तू, अफलातून आदि किंतने दार्शनिकों के ग्रन्थ मैंने ध्यान पूर्वक पढ़े हैं, पर जैसी शान्तिमयी आत्मविद्या मैंने उपनिषदों में पायी, वैसी और कहीं देखने को नहीं मिली।

“Is God knowable” नामक ग्रन्थ में उसके रचयिता प्रो० जी० आर्क ने लिखा है- “मनुष्य की आत्मिक, मानसिक और सामाजिक गुणित्याँ किस प्रकार सुलझ सकती हैं, इसका ज्ञान उपनिषदों से ही मिल सकता है। यह शिक्षा इतनी सत्य, शिव और सुन्दर है कि अन्तरात्मा की गहराई तक उसका प्रवेश होता है। जब मनुष्य सांसारिक दुःखों और चिन्ताओं से धिरा हो, तो उसे शान्ति और सहारा देने के अमोघ साधन के रूप में उपनिषद् ही सहायक हो सकती है।”

दाराशिकोह ने अपने फारसी उपनिषद्

अनुवाद की भूमिका में लिखा है-“ आत्मविद्या के मैंने बहुत ग्रन्थ पढ़े, पर परमात्मा के खोज की प्यास कहीं न बुझी। हृदय में ऐसी अनेकों शंकाएँ और समस्याएँ उठती थीं, जिनका समाधान ईश्वरीय ज्ञान के अतिरिक्त और किसी प्रकार सम्भव न था। मैंने कुरान, तौरेत, इज्जील, जबुर आदि ग्रन्थ पढ़े, उनमें ईश्वर सम्बन्धी जो वर्णन है, उनसे मन की प्यास न बुझी। तब हिन्दुओं की ईश्वरीय पुस्तकें पढ़ीं। इनमें से उपनिषदों का ज्ञान ऐसा है, जिससे आत्मा को शाश्वत शान्ति तथा सच्चे आनन्द की प्राप्ति होती है। हजरत नबी ने भी एक आयत में इन्हीं प्राचीन रहस्यमय पुस्तकों के सम्बन्ध में संकेत किया है।”

उपनिषद्-दर्शन अथवा मौलिक वेदान्त के विख्यात व्याख्याता पॉल डायसन के अनुसार ‘वेदान्त’ (अर्थात् उपनिषद्-दर्शन) अपने अविकृत रूप में शुद्ध नैतिकता का सशक्ततम आधार है, जीवन और मृत्यु की पीड़ाओं में सबसे बड़ी सान्त्वना है। भारतीयों! इसमें निष्ठा रखो।’

भारतीय आचार, विचार और साहित्य संस्कृति के प्रति अगाध निष्ठा रखने वाली विदुषी महिला डॉ० एनीबेसेंट ने उपनिषद् विद्या की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि ‘भारत का ज्ञान मानव चेतना की सर्वोच्च देन है।’

उपनिषद्-ज्ञान के प्रचार-प्रसार में संस्कृतज्ञ विद्वान् बेवर साहब का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने जर्मन भाषा में एक पुस्तक सत्रह भागों में लिखी है, जिसका नाम है ‘इण्डिशे स्टूडियन’। उसका प्रथम भाग १८५० ईस्वी में बर्लिन से प्रकाशित हुआ था। इस भाग में बेवर महोदय ने ‘सिर-ए-अकबर’ (ले० दाराशिकोह) की चौदह उपनिषदों को शुद्धता से सम्पादित कर प्रकाशित किया है। इसका दूसरा भाग बर्लिन से ही १८५३ ई० में प्रकाशित हुआ। उसमें १४ से ३९ संख्या तक के उपनिषद् प्रकाशित किये गये हैं।

## उपनिषदों के स्रोत एवं उनकी संख्या

उपनिषदों की प्राप्ति के स्रोत के बारे में कोई एक बात कही जा सकती है, तो वह यही है कि उनका उद्भव ऋषियों-द्रष्टाओं के अनुभूति जन्य ज्ञान से हुआ है। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कि उपनिषदों को 'वेद' के ब्राह्मण-आरण्यक प्रभाग के अन्तर्गत माना जाता है। कुछ उपनिषदें संहिता (मन्त्र भाग), ब्राह्मण एवं आरण्यक की अंगभूता-अशभूता हैं, जबकि अधिकांश वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल के ऋषियों के प्रातिभ चक्षु से दृष्ट हैं, जिनका स्वतन्त्र अस्तित्व है। 'ऐतरेयोपनिषद्' ऋग्वेद के ऐतरेय आरण्यक का भाग (२.४.६) है तथा 'तैत्तिरीय उपनिषद्' कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक का भाग (प्रपाठक ७-८) है। इसी आरण्यक का अन्तिम प्रपाठक (क्र. १०) 'नारायणोपनिषद्' कहलाता है, जो अथर्ववेदीय महानारायणोपनिषद् से भिन्न है।

शुक्ल यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम (१४वें) काण्ड के अन्तिम छः अध्याय को 'बृहदा-रण्यकोपनिषद्' कहा गया है। ब्राह्मण ग्रन्थ का यह भाग आरण्यक भी है और उपनिषद् भी है। इसी प्रकार 'ईशावास्योपनिषद्' भी यजुर्वेद की माध्यन्दिन और काण्व संहिताओं का ४० वाँ अध्याय है।

सामवेद की कौथुमी शाखा के तलवकार ब्राह्मण ग्रन्थ के अन्तिम भागों (३३ से ४० अध्यायों) को छान्दोग्योपनिषद् कहा गया है। ऋग्वेदीय 'कौषीतकि' या 'शाङ्खायन आरण्यक' के अध्याय ३-६ को 'कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्' कहते हैं।

मुक्तिकोपनिषद् (श्लोक क्र. ३० से ३९) में १०८ उपनिषदों की सूची प्राप्त है। इन १०८ में से ऋग्वेद की १०, शुक्ल यजुर्वेद की १९, कृष्ण यजुर्वेद की ३२, सामवेद की १६ तथा अथर्ववेद की ३१ उपनिषदें कही गयी हैं। मुक्तिकोपनिषद् में चारों वेदों की शाखाओं की संख्या देते हुए प्रत्येक शाखा की

एक-एक उपनिषद् होने की बात भी कही गयी है—  
 ऋग्वेदादिविभागेन वेदाश्रत्वार ईरिताः ।  
 तेषां शाखा ह्यनेकाः स्युस्तासूपनिषदस्तथा ॥  
 ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशति संख्यकाः ।  
 नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज ॥  
 सहस्रसंख्या जाताः शाखाः साम्प्रः परन्तर्प ।  
 अथर्वणस्य शाखाः स्युः पंचाशद्भेदतो हरे ॥  
 एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता ।

—मुक्तिकोपनिषद् ११-१४

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद भेद से वेद चार कहे गये हैं। उन चारों की अनेक शाखाएँ हैं तथा उनकी उपनिषदें भी अनेक हैं। ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ, यजुर्वेद की एक सौ नौ शाखाएँ, सामवेद की एक हजार शाखाएँ तथा अथर्ववेद की पचास शाखाएँ मानी जाती हैं। एक-एक शाखा की एक-एक उपनिषद् मानी गयी है। इस उक्ति के अनुसार ११८० उपनिषदें होनी चाहिए; किन्तु आगे (श्लोक ३० से ३९ तक) जो नाम गिनाये गये हैं, वे केवल १०८ ही हैं।

मुक्तिकोपनिषद् में जिन एक सौ आठ उपनिषदों के नाम आते हैं, वे सभी 'निर्णय सागर प्रेस' बम्बई से मूल गुटका के रूप में प्रकाशित हैं। इसके अतिरिक्त 'अड्यार लाइब्रेरी' मद्रास से भी उपनिषदों का संग्रह प्रकाशित हुआ है, जिसमें लगभग १७९ उपनिषदों का प्रकाशन है। 'गुजराती प्रिंटिंग प्रेस' बम्बई से मुद्रित उपनिषद् वाक्य महाकोश में २२३ उपनिषदों की नामावली दी गई है। इनमें दो उपनिषद्—(१) उपनिषत्स्तुति तथा (२) देव्युपनिषद् नं० २ की चर्चा शिव रहस्य नामक ग्रन्थ में की गई है। ये दोनों अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी हैं। शेष २२१ उपनिषदों के वाक्यांश इस महाकोश में संकलित हुए हैं। इनमें भी माण्डूक्यकारिका के चार प्रकरण चार जगह गिने गये हैं। इन सबकी

एक संख्या मानें, तो २१८ ही संख्या होती है। कई उपनिषदें एक ही नाम की दो-तीन जगह आयी हैं; पर वे स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। इस प्रकार सब पर दृष्टिपात करने से यह निश्चित होता है कि अब तक लगभग २२० उपनिषदें प्रकाश में आ चुकी हैं। सम्भवतः कहीं और भी कुछ उपनिषदें प्रकाशित हुई हों? कितनी ही अब भी अप्रकाशित रूप में उपलब्ध हो सकती हैं। भारतवर्ष की अथाह ज्ञान सम्पदा के गर्भ में और कितने रत्न छिपे पड़े हैं, यह कहा नहीं जा सकता। यहाँ उपर्युक्त २२० उपनिषदों की नामावली अकारादि क्रम से दी जा रही है-

- (१) अक्षमालिकोपनिषद् (अक्षमालोपनिषद्)
- (२) अक्षि- उपनिषद्
- (३) अथर्वशिखोपनिषद्
- (४) अथर्वशिर उपनिषद्
- (५) अद्वयतारकोपनिषद्
- (६) अद्वैतभावनोपनिषद्
- (७) अद्वैतोपनिषद्
- (८) अध्यात्मोपनिषद्
- (९) अनुभवसारोपनिषद्
- (१०) अन्नपूर्णोपनिषद्
- (११) अमनस्कोपनिषद्
- (१२) अमृतनादोपनिषद्
- (१३) अरुणोपनिषद्
- (१४) अल्लोपनिषद्
- (१५) अवधूतोपनिषद् (वाक्यात्मक और पद्यात्मक)
- (१६) अवधूतोपनिषद् (पद्यात्मक)
- (१७) अव्यक्तोपनिषद्
- (१८) आचमनोपनिषद्
- (१९) आत्मपूजोपनिषद्
- (२०) आत्म प्रबोधोपनिषद् (आत्मबोधोपनिषद्)
- (२१) आत्मोपनिषद् (वाक्यात्मक)
- (२२) आत्मोपनिषद् (पद्यात्मक)
- (२३) आथर्वण द्वितीयोपनिषद्  
(वाक्यात्मक एवं मन्त्रात्मक)
- (२४) आयुर्वेदोपनिषद्
- (२५) आरुणिकोपनिषद् (आरुणेय्युपनिषद्)
- (२६) आर्षेयोपनिषद्
- (२७) आश्रमोपनिषद्
- (२८) इतिहासोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)
- (२९) ईशावास्योपनिषद्  
उपनिषत्स्तुति (शिवरहस्यान्तर्गत, अभी तक अनुपलब्ध है)
- (३०) ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)
- (३१) एकाक्षरोपनिषद्
- (३२) ऐतरेयोपनिषद् (अध्यायात्मक)
- (३३) ऐतरेयोपनिषद् (खण्डात्मक)
- (३४) ऐतरेयोपनिषद् (अध्यायात्मक)
- (३५) कठरुद्रोपनिषद् (कण्ठरुद्रोपनिषद्)
- (३६) कठोपनिषद्
- (३७) कठश्रुत्युपनिषद्
- (३८) कलिसंतरणोपनिषद् (हरिनामोपनिषद्)
- (३९) कात्यायनोपनिषद्
- (४०) कामराजकीलितोद्धारोपनिषद्
- (४१) कालाग्निरुद्रोपनिषद्
- (४२) कालिकोपनिषद्
- (४३) कालीमेधा दीक्षितोपनिषद्
- (४४) कुण्डिकोपनिषद्
- (४५) कृष्णोपनिषद्
- (४६) केनोपनिषद्
- (४७) कैवल्योपनिषद्
- (४८) कौलोपनिषद्
- (४९) कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्
- (५०) क्षुरिकोपनिषद्
- (५१) गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद्
- (५२) गणेशपूर्वतापिन्युपनिषद् (वरदपूर्वतापिन्युप०)
- (५३) गणेशोत्तरतापिन्युपनिषद् (वरदोत्तरतापिन्यु०)
- (५४) गर्भोपनिषद्
- (५५) गान्धर्वोपनिषद्
- (५६) गायत्र्युपनिषद् (गोपथ ब्राह्मणान्तर्गत)

- (गायत्र्युपनिषद्-शतपथ ब्राह्मणान्तर्गत)
- (५७) गायत्री रहस्योपनिषद्  
 (५८) गरुडोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं मन्त्रात्मक)  
 (५९) गुह्यकाल्युपनिषद्  
 (६०) गुह्यषोढान्यासोपनिषद्  
 (६१) गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्  
 (६२) गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्  
 (६३) गोपीचन्दनोपनिषद्  
 (६४) चतुर्वेदोपनिषद्  
 (६५) चाक्षुषोपनिषद् (चक्षुरुपनिषद्,  
     चक्षुरोगोपनिषद्, नेत्रोपनिषद्)  
 (६६) चित्त्युपनिषद्  
 (६७) छागलेयोपनिषद्  
 (६८) छान्दोग्योपनिषद्  
 (६९) जाबालदर्शनोपनिषद्  
 (७०) जाबालोपनिषद्  
 (७१) जाबाल्युपनिषद्  
 (७२) तारसारोपनिषद्  
 (७३) तारोपनिषद्  
 (७४) तुरीयातीतोपनिषद् (तीतावधूतोपनिषद्)  
 (७५) तुरीयोपनिषद्  
 (७६) तुलस्युपनिषद्  
 (७७) तेजोबिन्दूपनिषद्  
 (७८) तैत्तिरीयोपनिषद्  
 (७९) त्रिपादविभूतिमहानारायणोपनिषद्  
 (८०) त्रिपुरातापिन्युपनिषद्  
 (८१) त्रिपुरोपनिषद्  
 (८२) त्रिपुरामहोपनिषद्  
 (८३) त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्  
 (८४) त्रिसुपर्णोपनिषद्  
 (८५) दक्षिणामूर्त्युपनिषद्  
 (८६) दत्तात्रेयोपनिषद्  
 (८७) दत्तोपनिषद्  
 (८८) दुर्वासोपनिषद्  
 (८९) १. देव्युपनिषद् (पद्यात्मक एवं मन्त्रात्मक)
२. देव्युपनिषद् (शिवरहस्यान्तर्गत-अनुपलब्ध)
- (९०) द्वयोपनिषद्  
 (९१) ध्यानबिन्दूपनिषद्  
 (९२) नादबिन्दूपनिषद्  
 (९३) नारदपरिव्राजकोपनिषद्  
 (९४) नारदोपनिषद्  
 (९५) नारायणपूर्वतापिन्युपनिषद्  
 (९६) नारायणोत्तरतापिन्युपनिषद्  
 (९७) नारायणोपनिषद् (नारायणाथर्वशीर्ष)  
 (९८) निरालम्बोपनिषद्  
 (९९) निरुक्तोपनिषद्  
 (१००) निर्वाणोपनिषद्  
 (१०१) नीलरुद्रोपनिषद्  
 (१०२) नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्  
 (१०३) नृसिंहषट्चक्रोपनिषद्  
 (१०४) नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्  
 (१०५) पञ्चब्रह्मोपनिषद्  
 (१०६) परब्रह्मोपनिषद्  
 (१०७) परमहंस परिव्राजकोपनिषद्  
 (१०८) परमहंसोपनिषद्  
 (१०९) परमात्मिकोपनिषद्  
 (११०) पारायणोपनिषद्  
 (१११) पाशुपतब्रह्मोपनिषद्  
 (११२) पिण्डोपनिषद्  
 (११३) पीताम्बरोपनिषद्  
 (११४) पुरुषसूक्तोपनिषद्  
 (११५) पैङ्गलोपनिषद्  
 (११६) प्रणवोपनिषद् (पद्यात्मक)  
 (११७) प्रणवोपनिषद् (वाक्यात्मक)  
 (११८) प्रश्नोपनिषद्  
 (११९) प्राणग्निहोत्रोपनिषद्  
 (१२०) बटुकोपनिषद् (बटुकोपनिषद्)  
 (१२१) बहूचोपनिषद्  
 (१२२) बाष्कलमन्त्रोपनिषद्  
 (१२३) बिल्वोपनिषद् (पद्यात्मक)

- |   |  |
|---|--|
| (१२४) बिल्वोपनिषद् (वाक्यात्मक)   | (१५४) १. योगतत्त्वोपनिषद्  |
| (१२५) बृहज्ञाबालोपनिषद्   | (१५५) २. योगतत्त्वोपनिषद्  |
| (१२६) बृहदारण्यकोपनिषद्   | (१५६) योगराजोपनिषद्  |
| (१२७) ब्रह्मविद्योपनिषद्  | (१५७) योगशिखोपनिषद्  |
| (१२८) ब्रह्मबिन्दूपनिषद् (अमृतबिन्दूपनिषद्)                                       | (१५८) योगोपनिषद्   |
| (१२९) ब्रह्मोपनिषद्   | (१५९) राजश्यामलारहस्योपनिषद्   |
| (१३०) भगवदीतोपनिषद्   | (१६०) राधिकोपनिषद् (वाक्यात्मक)  |
| (१३१) भवसंतरणोपनिषद्  | (१६१) राधोपनिषद् (प्रपाठात्मक)   |
| (१३२) भस्मजाबालोपनिषद्  | (१६२) रामपूर्वतापिन्युपनिषद्   |
| (१३३) भावनोपनिषद् (कापिलोपनिषद्)  | (१६३) रामरहस्योपनिषद्  |
| (१३४) भिक्षुकोपनिषद्  | (१६४) रामोत्तरतापिन्युपनिषद्   |
| (१३५) मठाम्नायोपनिषद्   | (१६५) रुद्रहृदयोपनिषद्   |
| (१३६) मण्डलब्राह्मणोपनिषद्  | (१६६) रुद्राक्षजाबालोपनिषद्  |
| (१३७) मन्त्रिकोपनिषद् (चूलिकोपनिषद्)  | (१६७) रुद्रोपनिषद्   |
| (१३८) मल्लायुपनिषद्   | (१६८) लक्ष्म्युपनिषद्  |
| (१३९) महानारायणोपनिषद् (बृहत्तारायणोपनिषद्,<br>उत्तर नारायणोपनिषद्)               | (१६९) लाङ्गूलोपनिषद्   |
| (१४०) महावाक्योपनिषद्   | (१७०) लिङ्गोपनिषद्   |
| (१४१) महोपनिषद्   | (१७१) वज्रपञ्जरोपनिषद्   |
| (१४२) माण्डूक्योपनिषद्  | (१७२) वज्रसूचिकोपनिषद्   |
| (१४३) माण्डूक्योपनिषत्कारिका<br>क. आगम<br>ख. अलातशान्ति<br>ग. वैतश्य<br>घ. अद्वैत | (१७३) वनदुर्गोपनिषद्<br>(१७४) वराहोपनिषद्<br>(१७५) वासुदेवोपनिषद्<br>(१७६) विश्रामोपनिषद्<br>(१७७) विष्णुहृदयोपनिषद्<br>(१७८) शरभोपनिषद्<br>(१७९) शाट्यायनीयोपनिषद्<br>(१८०) शाणिडल्योपनिषद्<br>(१८१) शारीरकोपनिषद्<br>(१८२) १. शिवसङ्कल्पोपनिषद्<br>(१८३) २. शिवसङ्कल्पोपनिषद्<br>(१८४) शिवोपनिषद्<br>(१८५) शुकरहस्योपनिषद्<br>(१८६) शौनकोपनिषद्<br>(१८७) श्यामोपनिषद्<br>(१८८) श्रीकृष्णपुरुषोत्तमसिद्धान्तोपनिषद् |
| (१४४) मुक्तिकोपनिषद्  |  |
| (१४५) मुण्डकोपनिषद्   |  |
| (१४६) मुद्गलोपनिषद्   |  |
| (१४७) मृत्युलाङ्गूलोपनिषद्  |  |
| (१४८) मैत्रायण्युपनिषद्   |  |
| (१४९) मैत्रेय्युपनिषद्  |  |
| (१५०) यज्ञोपवीतोपनिषद्  |  |
| (१५१) याज्ञवल्क्योपनिषद्  |  |
| (१५२) योगकुण्डल्युपनिषद्  |  |
| (१५३) योगचूडामण्युपनिषद्  |  |

- (१९९) श्रीचक्रोपनिषद्
- (२००) श्रीविद्यातारकोपनिषद्
- (२०१) श्री सूक्तम्
- (२०२) श्वेताश्वतरोपनिषद्
- (२०३) षोडोपनिषद्
- (२०४) सङ्कर्षणोपनिषद्
- (२०५) सदानन्दोपनिषद्
- (२०६) सन्ध्योपनिषद्
- (२०७) संन्यासोपनिषद् (अध्यायात्मक)
- (२०८) संन्यासोपनिषद् (वाक्यात्मक)
- (२०९) सरस्वतीरहस्योपनिषद्
- (२१०) सर्वसारोपनिषद् (सर्वोपनिषद्)
- (२११) सहवै उपनिषद्
- (२१२) संहितोपनिषद्
- (२१३) सामरहस्योपनिषद्
- (२१४) सावित्र्योपनिषद्
- (२१५) सहस्रोपनिषद्
- (२१६) स्वसंवेदोपनिषद्
- (२१७) हयग्रीवोपनिषद्
- (२१८) हंसषोडोपनिषद्
- (२१९) हंसोपनिषद्
- (२२०) हेरम्बोपनिषद्

### भाष्य एवं अनुवाद

आचार्य शंकर ने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक एवं श्वेताश्वतर, इन ११ उपनिषदों के भाष्य किये हैं। इसके पूर्व उपनिषदों के स्वतन्त्र भाष्य गिने-चुने ही किये गये ह।

शाहजादा दाराशिकोह द्वारा किए गये फारसी अनुवाद संग्रह में लगभग ५० उपनिषदें शापिल थीं। कोलब्रुक के संग्रह में उपनिषदों की संख्या ५२ थी। जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने आचार्य शंकर द्वारा चुनी गयी ११ उपनिषदों के साथ 'मैत्रायणीय' उपनिषद् सहित १२ उपनिषदों का अनुवाद किया था।

उपनिषदों के अँग्रेजी अनुवाद इस क्रम से प्रकाशित हुए हैं— राजाराममोहनराय (१८३२), रोअर (१८५३), मैक्समूलर (१८७९-१८८४-सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट), गीड और चट्टोपाध्याय (१८९६), लंदन थियोसोफिकल सोसाइटी, सीताराम शास्त्री और गंगानाथ ज्ञा (१८९८-१९०१),

जी० ए० नटसेन, मद्रास, सीतानाथ तत्त्वभूषण (१९००), एस० सी० वसु (१९११), आर० ह्यूम (१९२१), ई० बी० कोवेल, हिरियना, द्विवेदी, महादेव शास्त्री और श्री अरविन्द ने भी कुछ उपनिषदों के अनुवाद प्रकाशित किये हैं।

मुख्य उपनिषदों पर शंकर के भाष्यों के अँग्रेजी अनुवाद भी उपलब्ध हैं। उनकी व्याख्याओं में अद्वैत का दृष्टिकोण है। रंगरामानुज ने उपनिषदों के अपने भाष्यों में रामानुज का दृष्टिकोण अपनाया है। मध्व के भाष्यों में द्वैत दृष्टिकोण है। उनके भाष्यों के उद्धरण पाणिनि आफिस इलाहाबाद से प्रकाशित उपनिषदों के संस्करण में मिलते हैं।

उक्त उपनिषदों के अतिरिक्त अन्य उपनिषदों के भाष्य या भाषार्थ छिट-पुट रूप से कहीं-कहीं मिलते हैं। गीताप्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित 'कल्याण' के विशेषांक 'उपनिषद् अंक' (१९४९) में एक ही स्थान पर ५४ उपनिषदों के भाषार्थ प्राप्त होते हैं।

## रचनाकाल

उपनिषदों के रचना काल के सम्बन्ध में कोई एक मत स्वीकार नहीं किया जा सकता है। कुछ उपनिषदें वेद की मूल संहिताओं की अंश हैं, उन्हें सबसे प्राचीन माना जाता है। कुछ उपनिषदें ब्राह्मण, आरण्यक आदि के अंश हैं, उनका रचनाकाल निश्चित रूप से संहिता काल के बाद का ही सिद्ध होगा। कुछ उपनिषदें स्वतंत्र हैं, वे सब बाद में क्रमशः अस्तित्व में आयीं।

काल निर्णय के सन्दर्भ में मंत्रों-श्रोकों में प्राप्त विभिन्न विवरणों का सहारा लिया जाता है। मंत्रों में जो संदर्भ मिलते हैं, उनमें (१) भौगोलिक परिस्थितियाँ (२) सूर्यवंशी-चन्द्रवंशी राजाओं राजाओं या ऋषियों के नाम (३) खगोलीय योगों के विवरण हैं।

इनमें भौगोलिक परिस्थितियों के आधार पर गंगा, सरस्वती, सिन्धु आदि नदियों के नाम आदि के आधार पर केवल यही संकेत मिलते हैं कि इनका रचनाकाल संदर्भित नदी आदि के उद्भव के बाद का ही है। इसलिए कोई सुनिश्चित काल निर्धारण इस आधार पर नहीं हो पाता। राजाओं-ऋषियों के नामों को आधार बनाने में भी उक्त समस्या बनी रहती है। फिर एक ही नाम के अनेक राजा एवं ऋषि पाये जाते हैं जिनके बीच अनेक पीढ़ियों के अंतर होते हैं। ऐसी स्थिति में रचनाकाल का निर्णय भी ठीक प्रकार नहीं हो पाता।

जहाँ खगोलीय योगों का वर्णन मिल जाता है, वहाँ ज्योतिष गणित के आधार पर बहुत कुछ सुनिश्चित गणना की जा सकती है। संहिताओं, ब्राह्मणों एवं स्वतंत्र उपनिषदों के काल निर्णय के संदर्भ में भी इसी विद्या का उपयोग अधिकांश विद्वानों ने किया है। इस विधि से किये गये काल निर्णयों को समझने में सहायक हो सकने वाली मोटी जानकारी यहाँ दी जा रही है।

## अयनभोग सिद्धान्त

मान्य तथ्य है कि पृथ्वी अपनी धुरी पर लगातार धूमते हुए सूर्य की परिक्रमा करती रहती है। पृथ्वीवासियों को सूर्य ही चलायमान प्रतीत होता है। आकाश में सूर्य के भासित पथ (एपरैन्ट पाथ) को क्रान्ति वृत्त कहते हैं। क्रान्ति वृत्त पर चलता हुआ सूर्य कभी पृथ्वी के उत्तरगोल में कभी दक्षिण गोल में पहुँचा हुआ अनुभव होता है। इस क्रम में सूर्य जिस बिन्दु पर विषुवत् रेखा के दक्षिण भाग में प्रवेश करता है, उसे शरत् सम्पात बिन्दु कहते हैं। तथा इससे ठीक १८० अंश पर दूसरा बिन्दु बनता है, जहाँ से सूर्य उत्तरी गोलार्ध में प्रवेश करता है, उसे वसन्त सम्पात कहते हैं।

ये सम्पात बिन्दु स्थिर नहीं हैं। वे प्रति वर्ष पूर्व से पश्चिम की ओर ५० विकला खिसकते रहते हैं। कोणीय माप में एक अंश (डिग्री) में ६० कला (मिनट) तथा एक कला में ६० विकला (सेकेन्ड) होते हैं। इस प्रकार एक अंश में  $60 \times 60 = 3600$  विकला होती है। संपात बिन्दु एक वर्ष में ५० विकला खिसकते हैं, तो एक अंश खिसकने में  $3600 / 50 = 72$  वर्ष लगते हैं। इन बिन्दुओं के खिसकने की गति को अयन गति कहते हैं। इस अयन गति के आधार पर काल निर्णय किया जाता है।

आकाश में २७ नक्षत्रों, १२ राशियों की मान्यता प्रसिद्ध है। किसी काल में यह सम्पात बिन्दु किस नक्षत्र पर थे, यह पता लगने पर वर्तमान समय में उनकी स्थिति के आधार पर यह पता लगाया जा सकता है कि इस बीच वे कितने अंश, कला, विकला खिसके हैं। इतना चलने में उन्हें कितना समय लगा, यह अयनगति के आधार पर आसानी से निकल आता है।

ज्योतिष के उक्त सूत्रों के आधार पर विद्वानों ने विभिन्न आर्ष ग्रन्थों के रचनाकाल निकालने के प्रयास किये हैं। श्री रजनी कान्त शास्त्री ने अपने

शोध ग्रन्थ 'वैदिक साहित्य- परिशीलन' में इसी गणना के आधार पर संहिताओं का रचनाकाल लगभग ४५३३ वर्ष ईसापूर्व निकाला है। अनेक अन्य विद्वानों की गणनाएँ भी इसी के आस-पास हैं। इस आधार पर संहिताओं से निकाले गये उपनिषदों (ईशावास्य, शिवसंकल्प उपनिषद् आदि) तथा शतपथ ब्राह्मण से लिए गये उपनिषद् (बृहदारण्यक, गायत्री आदि) का रचनाकाल भी उक्तानुसार ही माना जा सकता है।

मैत्रेयुपनिषद् (६.१४) में प्राप्त ऋक्तु परिवर्तन काल का जो उल्लेख मिलता है, उसके आधार पर लोकमान्य तिलक ने उक्त उपनिषद् का रचनाकाल  $३६० \times ७२ = २५९२०$  वर्ष के बीच माना है। अन्य विद्वानों के गणितीय निष्कर्ष भी इसी के आसपास हैं।

लेकिन यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। सम्पात बिन्दुओं को आकाश में एक चक्र ३६० अंश(डिग्री) पार करने में  $३६० \times ७२ = २५९२०$  वर्ष अर्थात् लगभग २६००० वर्ष का समय लगता है। इस हिसाब से संहिताओं के रचनाकाल में जो अयन

स्थिति थी, वह २६००० वर्ष पूर्व भी रही होगी; किन्तु यह सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उस काल से अब तक २६००० वर्ष के कितने चक्र पूरे किये जा चुके हैं?

ईसाई मतावलम्बी लोग सृष्टि की उत्पत्ति का समय ईसा से मात्र ५००० या ७००० वर्ष पूर्व ही मानते रहे हैं। इस मान्यता के आधार पर उपनिषदों का रचनाकाल ४००० वर्ष ईसा पूर्व तक मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने माना है; किन्तु अब तो वैज्ञानिक ऐसे प्रमाण देने लगे हैं, जिनके आधार पर सृष्टि का उद्भव लाखों-करोड़ों वर्ष पूर्व हुआ माना जाने लगा है। भारतीय वैदिक धर्म वाले तो सृष्टि की उत्पत्ति करोड़ों वर्ष पूर्व की मानते हैं। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि संपात बिन्दुओं की किसी भी स्थिति के लिए निर्धारित समय के साथ २६००० वर्ष के कितने चक्र और जोड़े जाएँ?

इसलिए उपनिषदों के रचनाकाल के बारे में तमाम अनुमानों और गणितीय प्रयोगों के बाद भी कोई साधिकार निर्णय दिया जाना संभव नहीं दिखता।

## उपनिषदों के वर्ण्य विषय

उपनिषदों का मूल विषय 'ब्रह्मविद्या' को माना गया है। 'ब्रह्मविद्या' का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। विद्वानों ने विभिन्न उपनिषदों में वर्णित विषयों के आधार पर 'ब्रह्मविद्या' के अन्तर्गत ३२ विद्याओं को समाविष्ट माना है। जो इस प्रकार हैं -

- (१) सद्ब्रिद्धि (छान्दो०), (२) आनन्दविद्या (तैत्ति०),
- (३) अन्तरादित्यविद्या (छान्दो०), (४) आकाश विद्या (छान्दो०), (५) प्राण विद्या (छान्दो०), (६) गायत्री-ज्योतिर्विद्या (छान्दो०), (७) इन्द्रप्राणविद्या (छान्दो०, कौ०ब्रा०), (८) शाण्डल्यविद्या (छान्दो०), (९) नाचिकेतसविद्या (कठ०), (१०) उपकोसलविद्या (छान्दो०), (११) अन्तर्यामिविद्या (बृह०), (१२) अक्षरविद्या (मुण्ड०), (१३) वैश्वानरविद्या (छान्दो०), (१४) भूमाविद्या (छान्दो०), (१५) गार्यक्षरविद्या

- (बृह०), (१६) प्रणवोपास्य परमपुरुष विद्या (प्रश्र०),
- (१७) दहर विद्या (छान्दो०, बृह०, तैत्ति०), (१८) अंगुष्ठ प्रमितविद्या (कठ०, श्वेता०), (१९) देवोपास्यज्योतिर्विद्या (बृह०), (२०) मधुविद्या (छान्दो०), (२१) संवर्गविद्या (छान्दो०), (२२) अजाशरीरकविद्या (श्वेता०, तैत्ति०), (२३) बालाकिविद्या (कौ०ब्रा०, बृह०), (२४) मैत्रेयी विद्या (बृह०), (२५) हुहिणरुद्रादिशरीरक विद्या,
- (२६) पञ्चाग्निविद्या (छान्दो०, बृह०), (२७) आदित्यस्थाहनामिक विद्या (बृह०), (२८) अक्षिस्थाहनामिक विद्या (बृह०), (२९) पुरुषविद्या (छान्दो०, तैत्ति०), (३०) ईशावास्यविद्या (ईश०), (३१) उषस्ति कहोल विद्या (बृह०) और (३२) व्याहति-शरीरक विद्या।

ये विद्याएँ क्रमशः स्पष्ट करती हैं कि-

- (१) परब्रह्म अपने सङ्गल्पानुसार सबके कारण हैं,
- (२) वे कल्याणगुणाकर वैभवसम्पन्न आनन्दमय हैं,
- (३) उनका रूप दिव्य है, (४) उपाधि रहित होकर वे सबके प्रकाशक हैं, (५) वे चराचर के प्राण हैं, (६) वे प्रकाशमान हैं, (७) वे इन्द्र, प्राण आदि चेतनाचेतनों के आत्मा हैं, (८) प्रत्येक पदार्थ की सत्ता, स्थिति एवं यत्न उनके अधीन हैं, (९) समस्त संसार को लीन कर लेने की सामर्थ्य उनमें है, (१०) उनकी नित्य स्थिति नेत्र में है, (११) जगत् उनका शरीर है, (१२) उनके विराट् रूप की कल्पना में अग्नि आदि अङ्ग बनकर रहते हैं, (१३) स्वर्लोक, आदित्य आदि के अङ्गी बने हुए वे वैश्वानर हैं, (१४) वे अनन्त ऐश्वर्य सम्पन्न हैं, (१५) वे नियन्ता हैं, (१६) वे मुक्त पुरुषों के भोग्य हैं, (१७) वे सबके आधार हैं, (१८) वे अन्तर्यामी रूप से सबके हृदय में विराजमान हैं, (१९) वे सभी देवताओं के उपास्य हैं, (२०) वे वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् और साध्यों के आत्मा के रूप में उपास्य हैं, (२१) अधिकारानुसार वे सभी के उपासनीय हैं, (२२) वे प्रकृतितत्त्व के नियन्ता हैं, (२३) समस्त जगत् उनका कार्य है, (२४) उनका साक्षात्कार कर लेना मोक्ष का साधन है, (२५) ब्रह्मा, रुद्र आदि-आदि देवताओं के अन्तर्यामी होने के कारण उन-उन देवताओं की उपासना के द्वारा वे प्राप्त होते हैं, (२६) संसार के बन्धन से मुक्ति

### अनोखी शैली

उपनिषद् की अपनी शैली अद्भुत है। गूढ़ रहस्यों को समझने की तीव्र उत्कृष्टा, अनुभूति की गहन क्षमता तथा अभिव्यक्ति की सहजता का दर्शन जगह-जगह होता ही रहता है।

कठोपनिषद् में नचिकेता अपनी जिज्ञासा को लेकर यम के सामने इतने अविचल भाव से डटे रहते हैं कि यम को द्रवित होना ही पड़ता है। छान्दोग्योपनिषद् में ऋषि आरुण अपने पुत्र श्वेतकेतु

उनके अधीन है, (२७) वे आदित्यमण्डलस्थ हैं, (२८) वे पुण्डरीकाक्ष हैं, (२९) वे परम पुरुष (पुरुषोत्तम) हैं, (३०) वे कर्म सहित उपासनात्मक ज्ञान के द्वारा प्राप्त होने वाले हैं, (३१) उनके प्राप्त करने में अनिवार्य होते हैं, अन्य भोजनादि विषयक नियम भी और (३२) व्याहतियों की आत्मा बनकर वे मंत्रमय हैं।

यह विषय विभाजन का एक क्रम है। विद्वानों ने और भी विभिन्न दृष्टियों से उपनिषदों के विषयों की विवेचनाएँ की हैं। जीवन की अगणित विविधताएँ एवं उनके रहस्यों का वर्णन उपनिषदों में मिलता है। इनमें विशुद्ध ज्ञान भी है तथा उसके अनुरूप साधना विज्ञान- योगविद्या की विभिन्न धाराएँ भी हैं। लौकिक और अलौकिक विभूतियों की प्राप्ति के उपायों के साथ उनके सुनियोजन-सदुपयोग के सूत्र भी हैं। ब्रह्म से प्रकृति एवं जीव की उत्पत्ति, जीव से जीव के विकास का क्रम तथा जीव का काया छोड़कर विभिन्न मार्गों से होकर पुनः ब्राह्मी चेतना में विलीन हो जाना, यह सभी पक्ष उपनिषदों में मिल जाते हैं।

उक्त तथ्यों को विषयानुसार वर्गीकृत करें, तो सूची बहुत लम्बी हो सकती है। फिर भी चूँकि यह सब विश्व वैचित्र्य ब्राह्मी संकल्प से ही उभरा है और उसी में पुनः समाहित हो जाता है, इसलिए उपनिषदों का मूल विषय ब्रह्म विद्या को ही कहा जाये, तो यह उचित ही है।

सहित जिज्ञासु भाव से क्षत्रिय राजा प्रवाहण से उपदेश प्राप्त करने में कोई संकोच नहीं करते। ऐतरेय उपनिषद् में ऋषि वामदेव प्रजनन चक्र समझने के लिए स्वयं अपनी चेतना को उस चक्र में घुमाकर अनुभव प्राप्त करते हैं। इस प्रकार प्राप्त अनुभूतिजन्य ज्ञान को जनहितार्थ बड़ी सहजता से व्यक्त किया जाता है।

गूढ़ ज्ञान प्रकट करने वालों में जहाँ अपने

अनुभव के प्रति पूर्ण आत्मविश्वास मिलता है, वहीं ज्ञानी की निरहंकारिता भी स्पष्ट परिलक्षित होती है। बालक नचिकेता को यम के द्वार पर तीन दिन प्रतीक्षा करनी पड़ती है, तो यमदेव स्वयं उसके लिए पश्चात्ताप प्रकट करते हैं। जनक की सभा में याज्ञवल्क्य शिष्यों को गौएँ ले जाने की आज्ञा देते हैं, तो अन्य विद्वान् उनसे पूछते हैं कि क्या आप स्वयं को सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेता मानते हैं? तब वे नप्रतापूर्वक कहते हैं -

“ब्रह्मवेताओं को मेरा नमस्कार है, मुझे तो गौओं की आवश्यकता थी, इसलिए उन्हें स्वीकार कर लिया”। अपनी बात समझाने के लिए ऋषि विविध ढंग अपनाते हैं। केनोपनिषद् में पहले ब्रह्म के विषय में विवेचनात्मक शैली अपनायी गयी है। बाद में यक्ष प्रसंग द्वारा कथा शैली से उसे समझाया गया है।

प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को जन सामान्य के लिए सुलभ उपमाओं के माध्यम से व्यक्त करने का बड़ा सुन्दर प्रयास किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के १.४ में विश्व व्यवस्था को एक विशिष्ट पहिये की उपमा से समझाने का प्रयास किया गया है, तो १.५ में विश्व के जीवन प्रवाह को एक नदी के प्रसंग से व्यक्त करने का कौशल दिखाया गया है।

ब्राह्मी चेतना किस प्रकार विभिन्न चरणों को पूरा करती हुई ‘जीव’ रूप में व्यक्त होती है, यह तथ्य मात्र विवेचनात्मक ढंग से समझाना-समझाना बड़ा दुष्कर है; किन्तु छान्दोग्योपनिषद् (५.४-८) में ऋषि उसे क्रमशः पाँच प्रकार की अग्नियों में पाँच आहुतियों के उदाहरण से बहुत सहज रूप से समझाते हैं। प्रत्येक अग्नि में एक हव्य की आहुति होती है, उससे नये चरण में पदार्थ की उत्पत्ति होती है। ऋषि समझाते हैं कि प्रथम चरण में द्युलोकरूपी अग्नि में श्रद्धा की आहुति से सोम, दूसरे में पर्जन्यरूपी अग्नि में सोम की आहुति से वर्षा, तीसरे चरण में पृथ्वीरूपी अग्नि में वर्षा की आहुति से अन्न, चतुर्थ चरण में पुरुष में अन्न की आहुति से शुक्राणु तथा पाँचवें चरण में नारीरूपी अग्नि में शुक्राणु की आहुति से व्यक्ति वाचक ‘जीव’

का उद्भव होता है। आज का विज्ञान अपने समस्त संसाधनों के साथ भी चेतना और पदार्थ के इस सुसंगत संयोजन का अध्ययन नहीं कर पा रहा है।

उपनिषद् में केवल बौद्धिक जानकारियों को अपर्याप्त माना है, ज्ञान की सभी धाराओं के मूल में स्थित आत्मतत्त्व का अनुभव करना अभीष्ट माना जाता है। छान्दोग्योपनिषद् में श्वेतकेतु स्वीकार करते हैं कि वे वेदादि का अध्ययन तो कर चुके हैं; लेकिन अभी उस अनुभूति को नहीं पा सके हैं, जिसके आधार पर अनसुना-अनजाना भी सुना और समझा जा सकता है। स्वयं देवर्षि नारद भी सनत्कुमार जी से कहते हैं कि उन्हें वेद विद्या से लेकर नागविद्या तक सभी तरह की विद्याएँ तो प्राप्त हैं; किन्तु अभी आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं हुआ है।

उपनिषद् के ऋषि आत्मबोध को तो परमेश्वर के लिए भी आवश्यक मानते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् १.४.१० में कहा गया है कि ब्रह्म ने अपने को जाना तो वह ‘सर्व’ हो गया। देवता, ऋषि, मनुष्यों में से जिन्होंने भी उसे जाना, वे तद्रूप हो गये। महर्षि वामदेव उसी अनुभव के आधार पर कहते हैं, ‘मैं ही मनु और सूर्य हुआ हूँ.... आदि। ईशोपनिषद् में भी ऋषि यही अनुभव करते हुए कहते हैं- “तेजो यत्ते रूपम् कल्याणतमं तत्ते पश्यामि, योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।” सर्वत्र एक ही चेतना को सक्रिय देखने वाले ऋषि किसी जाति भेद, वर्गभेद में बँधना स्वीकार नहीं करते। सत्यकाम जाबाल अपने पिता का परिचय नहीं जानते; किन्तु उनकी प्रखर जिज्ञासा के आधार पर उन्हें अध्यात्म की उच्च कक्षा में प्रवेश दिया जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् १.४.११-१५ में ऋषि स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य के चारों वर्ण ब्रह्म के ही रूप हैं। यह रूप उसके द्वारा विभिन्न विभूतियुक्त कर्म करने के लिए विकसित किये हैं। देवताओं में भी उनके कर्मविभाग के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र संज्ञकदेवों का उल्लेख किया जाता है। वर्णभेद के बहाने जातिभेद के विषयों के लिए उपनिषदों में कोई स्थान नहीं है। वे तो आत्मा की सर्वव्यापकता

के आधार पर मनुष्य मात्र के लिए विकास के समान अवसर उपलब्ध कराना चाहते हैं।

उपनिषदों में कर्मकाण्ड का तथा उनकी फलश्रुतियों का उल्लेख भी जहाँ-तहाँ मिलता है; लेकिन वे वहाँ तक सीमित नहीं रह जाते। कर्मकाण्ड के स्थूल स्वरूप को भेदकर उसके मर्म तक पहुँचते हैं, वे सामग्रान की व्याख्या करते हैं, तो उसे यज्ञीय कर्मकाण्ड में कुछ मन्त्रों के गायन तक ही सीमित नहीं रहने देते। छान्दोग्योपनिषद् प्रथम

अध्याय के तेरहवें खण्ड में तथा अध्याय-२ के दूसरे खण्ड में प्रकृति चक्र में अनेक प्रकार के साम प्रवाह (सन्तुलित प्रवाहों) का स्वरूप समझाते हैं। उपनिषद् में पुरुषमेध-सर्वमेध आदि यज्ञ आत्म निग्रह के विधान बन जाते हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् के अश्वमेध प्रकरण में अश्वमेध, व्यक्ति द्वारा सम्पूर्ण विश्व को समर्पित करने की समाधि जैसी प्रक्रिया के रूप में परिलक्षित होने लगता है।

## भाव और भाषा

उपनिषद् में भाव और भाषा की सहजता का बड़ा सुन्दर तालमेल मिलता है। अनुभूति से उपजे सहज भावों को सहज भाषा में व्यक्त करने का प्रयास किया गया है। अपने भाषा ज्ञान को व्यक्त करने में आडम्बर पूर्ण, किलष्ट भाषा को थोपने का प्रयास नहीं किया गया है। इसके लिए तर्क, समीक्षा, कथोपकथन, उदाहरण, उपाख्यान आदि विभिन्न शैलियों का समयानुकूल उपयोग करते हुए भावों को सहज ग्राह्य बनाने का प्रयास किया गया है।

यह सब होते हुए भी रहस्यात्मकता जगह-जगह परिलक्षित होती है। उसके कई कारण हैं। जैसे गूढ़ ज्ञान- विज्ञान को कितना भी सुगम बनाया जाये, उन्हें समझने के लिए अध्येता का अपना भी कुछ सार होना चाहिए। द्रष्टा ने जो देखा उसे पूरी तरह भाषा में बाँधना तो कभी सम्भव होता नहीं। भाषा में संकेतात्मक अभिव्यक्ति भर होती है। कोई संगीत विशेषज्ञ सुन्दर राग में मुधर भावों को गाकर व्यक्त करे, तो सुनने वाला उसके अन्दर के भाव

प्रवाह की एक झलक भर ही पा सकता है। वह भी गायन स्वर संकेतों के साथ लिपिबद्ध किया जाए, तब तो उसके भावों को समझने के लिए और भी अधिक साधना चाहिए।

आज पदार्थ विज्ञान को समझने के लिए केवल भाषा की समीक्षा करके तथ्य जानने की परिपाठी चल पड़ी है। पदार्थ विज्ञान के सन्दर्भ में यह पद्धति चल भी जाती है। लेकिन भाव विज्ञान के क्रम में तो केवल भाषा की समीक्षा से काम चल नहीं सकता। गूढ़ भावों को अनुभव करने के लिए सूक्ष्म संवेदनात्मक क्षमताएँ चाहिए। आज उनका बड़ा अभाव हो गया है। इसीलिए उपनिषदादि द्वारा सहज भाषा में प्रस्तुत भाव भी रहस्यात्मक प्रतीत होते हैं। ऋषि, देवता एवं छन्द को समझे बिना वेदमन्त्रों का भाव स्पष्ट नहीं होता। उसी प्रकार उपनिषदों के अध्ययन में भी द्रष्टा-उपदेश्य के स्तर, उसके लक्ष्य और अभिव्यक्ति की शैली पर गहराई से ध्यान देने पर ही उनके भावों के कथन का ठीक-ठीक लाभ उठाया जा सकता है।

## ऋषि का दृष्टिकोण

उपनिषद्कारों-ऋषियों ने जनकल्याण की दृष्टि से अपनी विशिष्ट अनुभूतियों को बड़े सहज ढंग से व्यक्त करने का कौशल दिखाया है। उनकी मेधा का कमाल कहें या संस्कृत भाषा की विशेषता। आश्र्वय होता है कि कैसे इतने गूढ़ एवं विविधतापूर्ण

तथ्यों को थोड़े शब्दों में एवं सहज भाषा में समाहित करके 'गागर में सागर' भरने की उक्ति चरितार्थ की गयी है।

औपनिषदीय सूत्रों का भावार्थ करने में जहाँ भाषा को सहज बोधगम्य बनाना आवश्यक लगता

है, वहीं द्रष्टा के दृष्टिकोण तथा उसके गूढ़ संकेतों को भी उभारना उचित प्रतीत होता है। ऋषि चेतना के समर्थ संरक्षण एवं मार्गदर्शन में हुए इस भाषार्थ में उक्त दोनों पक्षों के निर्वाह का प्रयास किया गया है। इसके लिए सहज भाषार्थ के आगे-पीछे पूर्वापर टिप्पणियों का सहारा लेकर विशिष्ट भावों-संकेतों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। उसके लिए वर्तमान समय में जन-मानस में बैठे हुए ज्ञान-विज्ञान के उदाहरणों के माध्यम से बात समझाने का प्रयास किया गया है। इससे ऋषि मेधा एवं जन-जिज्ञासा का सुसंयोग बन सकेगा, ऐसा विश्वास है। ऋषि की दृष्टि का दिङ्निर्देश हो जाने से विज्ञान उस दिशा में अपनी चिन्तन शक्ति का उपयोग करके समुचित लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

उदाहरणार्थ-सामान्यरूप से उद्गीथ का अर्थ 'ॐकार' या 'साम' मन्त्रों का गायन ही लिया जाता है; किन्तु छान्दोग्य उपनिषद् १.३.६ में ऋषि ने उसे त्रिविध प्राण-प्रवाहों के संयोग से साध्य बतलाया है। इस ओर ध्यान दिलाए बिना जन मान्यता का परिशोधन कैसे हो सकता है?

इसी प्रकार छान्दोग्य २.२.१ की टिप्पणी में स्थूल समग्रान के पाँच विभागों या भक्तियों के माध्यम से प्रकृति के विभिन्न क्रिया-कलापों में चलने वाली प्राण-प्रक्रिया को ऋषि ने आलंकारिक ढंग से व्यक्त किया है। यह क्रम अध्याय २ के द्वितीय से सप्तम खण्ड तक चलता है। अस्तु, द्वितीय खण्ड के प्रारम्भ में ही टिप्पणी देकर पाठक को वह भाव समझाने के लिए प्रेरित किया गया है।

इसी उपनिषद् में पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि 'उद्गीथ' ही साम है तथा साम का भाव 'साधु' श्रेष्ठ-सदाशयता पूर्ण होता है। उद्गीथ में प्राणों को उद्देश्य विशेष के लिए तरंगित-प्रेरित किया जाता है। श्रेष्ठ सन्दर्भों में प्राणों को तरंगित करने का क्रम स्थूल-सूक्ष्म प्रकृति में विभिन्न रूपों में चल रहा है। यज्ञीय गान में साम के पाँच विभाग

या भक्ति कहे गये हैं। ऋषि ने विराट् प्रकृति यज्ञ में साम के विभिन्न रूपों और उसके विभागों का वर्णन सप्तम खण्ड तक किया है। कहा गया है कि प्रकृति की विभिन्न क्रियाओं में होने वाले प्राणों के साम प्रयोगों से जो साधक तादात्म्य बिठा लेता है, उस साधक में उस चक्र को नियन्त्रित करने की क्षमता आ जाती है।

इसी प्रकार छान्दोग्य ३.५.२ के पूर्व पदार्थ कणों के अनुशासित प्रक्रिया के पीछे चेतन संकल्प की उपस्थिति का भाव समझाने की दृष्टि से टिप्पणी की गयी है-

'पदार्थ विज्ञान आदित्यादि की सक्रियता के पीछे पदार्थ कणों की सक्रियता को कारण मानता है। ऋषि कहते हैं कि आदित्यादि की जो दृश्य प्रक्रिया चल रही है, उसके पीछे चेतन का संकल्प या आदेश कार्य कर रहा है। कम्प्यूटर सारे कार्य करता दिखता है; किन्तु कम्प्यूटर वैज्ञानिक जानता है कि उस सारी प्रक्रिया के मूल में कम्प्यूटर को दिया गया निर्देश (कमाण्ड) ही उसकी सक्रियता का मुख्य कारण है। उसी प्रकार ऋषि इस विश्व ब्रह्माण्ड के पीछे कोई गुप्त निर्देश होना मानते हैं। उसे ही उन्होंने दृश्य रसों का भी रस कहा है।'

ऐतरेय उपनिषद् में ऋषि ने एक उपाख्यान से यह समझाया है कि विराट् पुरुष परब्रह्म से उत्पन्न हुई देव शक्तियाँ मनुष्य शरीर के विभिन्न अंग- अवयवों में स्थापित हैं। उस क्रम में भूख-प्यास के लिए कोई स्थान विशेष नहीं बतलाया गया है। इस रहस्यात्मक उक्ति को आज के शरीर विज्ञान के क्रम में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है-

'ऋषि स्पष्ट करते हैं कि भूख-प्यास का कोई स्वतंत्र स्थान नहीं है। वह विभिन्न अंग-अवयवों में संव्यास देवशक्तियों के साथ संयुक्त है। शरीर विज्ञान के वर्तमान शोध निष्कर्ष भी यही कहते हैं। भूख-प्यास शरीर के प्रत्येक कोश में होती है। जब तक पेट में अन्न-जल का भण्डार होता है; तब तक

भूख-प्यास की अनुभूति नहीं होती। रोगों की स्थिति में 'द्रिप' द्वारा जल एवं पोषण पहुँचाने से भी भूख-प्यास सताती नहीं है। स्पष्ट है कि भूख-प्यास प्रत्येक जीवित कोष के साथ संयुक्त है।'

इसी प्रकार पुरुष के गर्भ में पुरुष के परिपाक की बात भी जेनेटिक साइन्स के माध्यम से इस प्रकार स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है-

'वर्तमान प्रजनन विज्ञान (जेनेटिक साइन्स) भी वीर्य में गुण सूत्रों (क्रोमोजोमों) तथा जीन्स (जीवाणुओं) में व्यक्तित्व की सभी विशेषताओं का समावेश मानता है। पुरुष के गर्भ में पुरुष का परिपाक यह उपनिषद् की अपनी दृष्टि है। पदार्थ विज्ञान की अपनी सीमाएँ हैं, त्रिष्णि उसमें चेतना का संकल्पयुक्त तंत्र देखते हैं।'

कठोपनिषद् में नाचिकेताग्नि तथा उसकी 'इष्टिकाओं' की अवधारणा जिज्ञासुओं को दी जानी आवश्यक प्रतीत होती है, उसके लिए १.१.१५ एवं १.१.१६ की टिप्पणियाँ ध्यान देने योग्य हैं-

वेद में 'इष्टका' शब्द स्थूल ईटों के अतिरिक्त

'इष्ट' वस्तु के निर्माण में प्रयुक्त सूक्ष्म इकाइयों के लिए भी प्रयुक्त होता है। यहाँ स्थूल ईटों के स्थान पर अग्नि की सूक्ष्म इकाइयों का भाव ही ग्राह्य है। लौकिक अग्नि में भी विभिन्न इकाइयाँ शामिल होती हैं। इनमें ताप (कैलोरी), प्रकाश (ल्यूमेन) तथा रंग (कलर स्पेक्ट्रम) आदि सबको पता है। स्थूल अग्नि के अनेक अन्य गुण भी उसके घटक (इकाई) कहे जा सकते हैं। यहाँ स्वर्ग प्रदायिनी दिव्य अग्नि की इकाइयों तथा उनके चयन की बात कही गयी है। गुहा-अन्तःकरण में स्थित ऊर्जा की इकाइयाँ बीज रूप में स्थित दिव्य प्रवृत्तियाँ कही जा सकती हैं। उन्हीं के जागरण एवं संयोजन से व्यक्ति विद्वान्, कलाकार, वैज्ञानिक आदि स्तरों तक पहुँच जाता है। यमदेव ने नचिकेता को स्वर्ग तक पहुँचाने वाली दिव्य अग्नि-ऊर्जा के लिए आवश्यक सूक्ष्म इकाइयों तथा उनके संयोजन का रहस्य बतलाया है।'

इसी प्रकार विभिन्न प्रकरणों में जिज्ञासु अध्येताओं के चिन्तन को दिशा देने वाली टिप्पणियाँ स्थान-स्थान पर की गयी हैं।

### पूर्वाग्रह रहित शोध दृष्टि

ऋषियों के कथन का सही भाव प्राप्त करने के लिए परम्परा या पूर्वाग्रह से हटकर शोध दृष्टि का उपयोग आवश्यक हो जाता है। ऋषि निर्देशों के अनुरूप चलते हुए प्रस्तुत प्रयास में अनेक विवादास्पद प्रसंगों के युक्ति संगत स्पष्टीकरण सम्भव हो सके हैं।

उदाहरण के लिए ऊपर वर्णित कठ० १.१.१५ की व्याख्या को लें। यज्ञीय कर्मकाण्ड के अन्तर्गत ईटों से वेदिकाओं के निर्माण की बात ध्यान में आ जाती है। उसी को ध्यान में रखकर पूर्व आचार्यों ने नाचिकेताग्नि के अन्तर्गत इष्टका चयन सम्बन्धी मन्त्रों के अर्थ ईटों से वेदी का निर्माण प्रसंग के संदर्भ में ही करने का प्रयास किया है; किन्तु इस आधार पर मन्त्रों के भावों और उनकी फलश्रुतियों की सिद्धि नहीं होती। वेद में भी जिन मन्त्रों के देवता 'इष्टका'

हैं, उन प्रसंगों के अर्थ उन्हें प्रकृति की सूक्ष्म इकाइयों के रूप में स्वीकार करने से ही स्पष्ट होते हैं। इस छोटी-सी अवधारणा के साथ मन्त्रों के सहज स्वाभाविक अर्थ और महत्त्व स्पष्ट होने लगते हैं।

ऐसा ही एक प्रसंग छान्दोग्य उपनिषद् ३.६.४ की टिप्पणी में स्पष्ट किया गया है, वहाँ ऋषि सूर्य के विभिन्न दिशाओं से उदय और अस्त होने के प्रभावों का वर्णन कर रहे हैं। सभी जानते हैं कि सूर्य का उदय सदैव पृथ्वी के पूर्व से तथा अस्त पश्चिम दिशा में होता है। मेरु पर्वत के आस-पास सूर्य के भ्रमण जैसी परिकल्पनाओं के आधार पर उस प्रसंग का विवेक मान्य समाधान नहीं निकलता। उक्त प्रकरण के समाधान हेतु उक्त टिप्पणी का भाव ध्यान देने योग्य है-

छठवें से दसवें खण्ड तक सूर्य के उदय

एवं अस्त की प्रक्रिया में विभिन्न दिशाओं का उल्लेख किया गया है, अधिकांश आचार्यों ने उन दिशाओं को पृथ्वी की दिशाएँ मानकर अर्थ करने के प्रयास किये हैं, जो विवेक को सन्तुष्ट नहीं कर पाते। ये दिशाएँ पृथ्वी की दिशाएँ नहीं हैं। जैसा कि इसी अध्याय के खण्ड २ से ५ में स्पष्ट लिखा है कि विशिष्ट दिव्य प्रवाहों की स्थापना सूर्य के विशिष्ट (पूर्वादि नामक) भागों में हुई है। यहाँ सूर्य के उन्हीं भागों से विशिष्ट अमृत प्रवाहों के प्रकट होने की बात कही गयी है। आदित्य के पूर्व से उदय का भाव यह लिया जाना चाहिए कि जब आदित्य का पूर्ववाला भाग दृश्य होता है उस समय तक वसुगणों का तथा उनसे सम्बद्ध अमृत का प्रवाह वातावरण एवं साधक पर रहता है। आगे के खण्डों में भी इसी प्रकार सूर्य के अन्य दक्षिण, पश्चिम आदि भागों के उदय-अस्त (दृश्यादृश्य) का भाव लिया जाना उचित है।

इसी प्रकार ऐतरेय १.१.२ में पृथ्वी के नीचे पुनः आपः (अधस्तात् ता आपः) का भाव भी अधिकांश भाष्यों में खुल नहीं सका है। यहाँ आपः को सामान्य जल मानने से बात नहीं बनती। इस संदर्भ में ऐत० १.१.२ तथा १.१.४ की टिप्पणियों द्वारा अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि आपः प्रकृति का मूल क्रियाशील प्रवाह है, अवलोकन करें-

यहाँ लोकों के नाम और उनकी स्थितियाँ विचारणीय हैं। पृथ्वी को 'मर' - मृत्युलोक कहा जाता है। अन्तरिक्ष-मरीचि अर्थात् प्रकाश किरणों वाला लोक माना जाता है। मरीचि का अर्थ शब्द कल्पद्रुम के अनुसार पापों, क्षुद्र जीवों या तमस् को मारने वाला कहा गया है। अन्तरिक्ष में ऐसे तेजस्वी मारक प्रवाह होने की पुष्टि वर्तमान विज्ञान भी करता है। अम्भ=अम् (प्राण) तथा भः (भरणकर्ता) से बना है। द्युलोक से परे यह अव्यक्त रूप से सूक्ष्म प्राण का भरण करने वाला लोक है, जिसकी

प्रत्यक्ष प्रतिष्ठा के रूप में द्युलोक है। पृथ्वी के नीचे आपः लोक का भाव अनेक आचार्यों ने माना है, जो समीचीन नहीं लगता। वेद के सन्दर्भ से यह भाव स्पष्ट होता है।

ऋग्वेद ने आपः को सृष्टि के मूल क्रियाशील प्रवाह के रूप में व्यक्त किया है। आपः सृष्टि का आधारभूत द्रव्य है; इसलिए ऋषि ने उसे 'या अधस्तात् ता आपः' जो आधार रूप है, वह आपः है, ऐसा कहा है। वही हिरण्यगर्भ रूप है, जिसे वेद ने स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां (पृथ्वी और द्युलोक का आधार वही है) कहा है। आपः जल को भी कहते हैं; किन्तु वह अर्थ लेने से मन्त्र का भाव सिद्ध नहीं होता है। अस्तु, आपः को वेद की अवधारणा के आधार पर ही स्वीकार करना उचित है। इसे 'ता:' स्त्रीलिंग बहुवचन का सम्बोधन दिया गया है। इसी आपः तत्त्व के गर्भ में ब्रह्म का संकल्प बीज रूप में पककर विश्वरूप बनता है। यह गुण मातृसत्ता का होने से आपः को 'देवी आपः' या 'ता आपः' कहना उचित है। इस उपनिषद् में भी अगले मंत्रों में आपः का उत्पादक प्रयोग बार-बार परिलक्षित होता है।

यहाँ वीर्य से पुनः 'आपः' की उत्पत्ति कही गयी है। यह बड़ा वैज्ञानिक-मार्मिक कथन है। आपः सृष्टिकर्ता आधारभूत प्रवाह है। वीर्य में ही पुनः सृष्टि करने में समर्थ बीज तैयार होता है, वीर्य उस सूक्ष्म आपः प्रवाह के चक्र को पुनः प्रयुक्त करने में सक्षम है, ऐसा ऋषि का अनुभव है। उसी आपः तत्त्व में चेतना पुनः रूप ग्रहण करने लगती है। ऋषियों ने सृष्टि के विकास के क्रम में प्रयुक्त हर विधा का उल्लेख एक आवश्यक श्रेष्ठ प्रक्रिया के रूप में किया है। अमैथुनी और मैथुनी सृष्टि दोनों के रहस्यों और उनसे सम्बंधित मर्यादाओं का वर्णन है। ऐतरेय ५.८.२ में उन्होंने प्रजनन प्रक्रिया को नारी रूपी अग्नि में सम्पन्न यज्ञ के रूप में किया है।

ऐतरेय २.१३.१ में वे उस प्रक्रिया को 'वामदेव्य साम' के रूप में प्रतिपादित करते हैं। वहाँ ऋषि के अभिमृत को टिप्पणी द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया गया है-

'ऋषि ने दाम्पत्य और उनके माध्यम से चलने वाले प्रजनन चक्र को वामदेव्य साम के अन्तर्गत कहा है। कुछ लोग इस प्रसंग पर अश्रीलता का आरोप लगाते हैं; किन्तु ध्यान देने योग्य तथ्य है कि ऋषि प्रकृति प्रवाह के अन्तर्गत चलने वाले प्राण प्रवाह के विभिन्न चक्रों की व्याख्या विभिन्न साम साधनाओं के रूप में कर रहे हैं। पुरुष-नारी द्वारा संचालित प्रजनन विज्ञान (जेनेटिक साइन्स) को छोड़ा कैसे जा सकता था। वे तो इसे एक

विशिष्ट साम (प्राणों से प्राणी के विकास की श्रेष्ठ साधना) का स्वरूप देते हैं। अस्तु, इस ज्ञान-विज्ञान के प्रसंग में कहीं अश्रीलता की गंध लेने का प्रयास नहीं करना चाहिए।'

इस प्रकार वेद के शीर्ष कहे जाने वाले उपनिषदों के मन्त्रों के भावों की मूल अवधारणा पर ध्यान देते हुए समझा एवं समझाया जाना चाहिए। इस प्रस्तुति में अपनी सीमा-मर्यादा के बीच जो प्रयास किये गये हैं, उनके पीछे क्या मन्तव्य रहा है, वह विज्ञजनों के सामने सहज भाव से विनम्रता पूर्वक रख दिया गया है। आशा है कि इससे अध्येताओं को ज्ञानामृत के अवगाहन में समुचित सहयोग प्राप्त हो सकेगा।

### प्रकाशकीय

इस प्रस्तुति के सन्दर्भ में जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, उपनिषदों को आर्ष साहित्य के शीर्ष भाग की मान्यता प्राप्त है। नवयुग सृजन के पुष्ट आध्यात्मिक आधार को विकसित करने के लिए उपनिषदों के ज्ञानामृत को विचारशीलों तक पहुँचाने की आवश्यकता परम पूज्य, युगऋषि, वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने अनुभव की। तदनुसार सन् १९६१ में उन्होंने १०८ उपनिषदों के सुगम अनुवाद एवं जनसुलभ प्रकाशन का अनोखा पुरुषार्थ कर दिखाया। बाद में शान्ति-कुञ्ज में प्रज्ञा पुराण के अवतरण क्रम में ही उन्होंने गीता विश्वकोश तैयार करने तथा उपनिषदों के नये संस्करण से सम्बन्धित योजना प्रदान की। उस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूत्र संकेत भी प्रदान किये। उनके निर्देशानुसार शक्ति स्वरूपा वन्दनीया माता भगवतीदेवी शर्मा के मार्गदर्शन में वेदों के साथ ही उपनिषदों पर भी शोध स्तर का कार्य प्रारम्भ किया गया। १०८ उपनिषदों का प्रस्तुत संस्करण उसी योजना के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है।

पूज्य आचार्य श्री द्वारा प्रारम्भ में १०८ उपनिषदें तीन (ज्ञान, ब्रह्मविद्या और साधना) खण्डों में प्रकाशित की गयी थीं। उस परिपाटी को यथावत् बनाये रखकर भी कतिपय परिवर्तन करने पड़े हैं। जैसे—पूर्व प्रकाशित उपनिषदों में बृहदारण्यक उपनिषद् को उसके बड़े कलेवर के कारण अलग से प्रकाशित किया गया था; किन्तु इस संग्रह में उसे साथ में ही रखना उचित समझा गया। पहले उपनिषदों के पौराणिक कोई विशेष क्रम नहीं था, इसमें उपनिषदों को अकारादि क्रम से रखा गया है। इससे उपनिषदों को ढूँढ़ने में सुविधा रहेगी।

पूर्व प्रकाशन में प्रथम (ज्ञान खण्ड) में ३५ उपनिषदों का समावेश था। इस संग्रह में बृहदारण्यक० शामिल हो जाने के कारण इसमें कुल २४ उपनिषदों को ही लिया गया है। तीनों खण्डों के कलेवर लगभग समान रखने की दृष्टि को ध्यान में रखकर ऐसा करना आवश्यक समझा गया।

अध्येताओं की सुविधा के लिए कुछ और प्रयास इस संग्रह में किये गये हैं-१. मन्त्रों का

प्रामाणिक पाठ प्रस्तुत करने के लिए प्राचीन पाठों को भी ढूँढ़ने का प्रयास किया गया है। इसके लिए अद्यार लाइब्रेरी-मद्रास' से प्रकाशित उपनिषदों के प्रथम संस्करण (१९२०-५०) प्राप्त किये गये हैं। साथ ही 'भाण्डारकर प्राच्य शोध प्रतिष्ठान, पूना'; सिन्धिया प्राच्य विद्या शोध संस्थान, उज्जैन'; एशियाटिक रिसर्च इंस्टीट्यूट, मुम्बई', 'अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् लखनऊ' तथा 'सम्पूर्णनन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी' से प्राप्त 'हस्त-लिखित' उपनिषदों का भी सहयोग लिया गया है।

२. प्रत्येक खण्ड में 'मन्त्रानुक्रमणिका' देने का भी श्रमसाध्य प्रयास किया गया है। अभी तक गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित कुछ गिनी-चुनी उपनिषदों की ही मन्त्रानुक्रमणिका उपलब्ध थी। अब इस संग्रह की सभी उपनिषदों की क्रमणी दी जा रही है। इससे मन्त्रों की ढूँढ़-खोज में सरलता रहेगी।

३. प्रत्येक खण्ड में एक परिशिष्ट जोड़ने का नूतन प्रयास किया गया है। उपनिषदों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों को व्याख्यायित करके अकारादि क्रम में प्रस्तुत किया गया है। इससे उपनिषद् विद्या में अभिरुचि रखने वाले अध्येताओं को बड़ी सहायता मिलेगी।

४. यथाशक्ति उपनिषदों के मूलस्रोतों का पता लगाकर

उनके सन्दर्भ देने का प्रयास भी किया गया है। इससे यह जानना सुगम होगा कि कौन सी उपनिषद् संहिता का भाग है, कौन ब्राह्मण का, कौन आरण्यक का और कौन उनसे भिन्न है।

५. प्रत्येक उपनिषद् के प्रारम्भ में उसका संक्षिप्त सारांश दे दिया गया है, जिससे उपनिषद् की विषय-वस्तु पर एक विहंगम दृष्टि पड़ सके, जो पाठकों के लिए सुविधापूर्ण सिद्ध होगा।

इस प्रकार परम पूज्य गुरुदेव एवं वन्दनीया माताजी की थाती को उन्हीं की प्रेरणा एवं शक्ति से आपके समक्ष प्रस्तुत करने में अतीव सन्तोष का अनुभव हो रहा है। इस ज्ञान यज्ञ में जिस समिधा और हव्य का उपयोग हुआ है, उसे जुटाने एवं प्रयुक्त करने में जिनके भी श्रम-साधन सार्थक हुए हैं, उन्हें निःसन्देह इस ज्ञानयज्ञ की दिव्य सुगन्ध आप्यायित करके धन्य बना देगी। उनके लिए शब्दों से आभार प्रदर्शन का कोई मूल्य नहीं। इस प्रयास को और अधिक उत्कृष्टता प्रदान करने में पाठकों के सुझाव सदैव प्रार्थनीय रहेंगे, क्योंकि वे ही इसके सच्चे पारखी हैं। उन्हीं के हाथों में इसे इस आशा के साथ सौंप रहे हैं कि वे इस ज्ञानामृत का रसास्वादन उसी भाव से करेंगे, जिस भाव से यह प्रस्तुत किया गया है।

— प्रकाशक



ॐ

३०

## ॥ अमृतनादोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्ध है। इस उपनिषद् में प्रणवोपासना के साथ योग के छः अंगों- प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, प्राणायाम, तर्क (समीक्षा) एवं समाधि आदि का वर्णन किया गया है। प्राणायाम की विधि, ॐकार की मात्राओं का ध्यान, पाँचों प्राणों के स्थान एवं रंगों का उल्लेख भी किया गया है। योग साधक को भय, क्रोधादि मानसिक विकारों से मुक्त रहकर आहार-विहार, चेष्टा-कर्म, सोने- जागने आदि क्रमों को संतुलित बनाए रखने का निर्देश है। साधना के फलस्वरूप देवतुल्य जीवन की प्राप्ति से लेकर ब्रह्म निर्वाण तक की उपलब्धि का मार्गदर्शन दिया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।

तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परमात्मन्! आप हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें। हम दोनों साथ-साथ शक्ति अर्जित करें। हम दोनों की पढ़ी हुई विद्या तेजस्वी (प्रखर) हो। हम दोनों एक-दूसरे के प्रति कभी ईर्ष्या-द्वेष न करें। हे शक्ति-सम्पन्न! (हमारे) त्रिविधि (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) तापों का शमन हो, अक्षय शान्ति की प्राप्ति हो।

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः ।

परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत् ॥ १ ॥

परम ज्ञानवान् मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह शास्त्रादि का अध्ययन करके बारम्बार उनका अभ्यास करते हुए ब्रह्म विद्या की प्राप्ति करे। विद्युत् की कान्ति के समान क्षण-भङ्गर इस जीवन को (आलस्य-प्रमाद में) नष्ट न करे ॥ १ ॥

ओंकाररथमारुह्य विष्णुं कृत्वाथ सारथिम् ।

ब्रह्मलोकपदान्वेषी रुद्राराधनतत्परः ॥ २ ॥

ॐकार रूपी रथ में आरूढ़ होकर तथा भगवान् विष्णु को अपना सारथि बनाकर ब्रह्मलोक के परमपद का चिन्तन करता हुआ ज्ञानी पुरुष देवाधिदेव भगवान् रुद्र की उपासना में तल्लीन रहे ॥ २ ॥ ३०

[प्राप्त यदि त्रौकिक सुखोपभोगों पर अमूर्ढ हो जाता है, तो क्षीण होता है। जब रेडियो-तरंगों पर ध्वनि को आरोपित (सुप्स-इमोज) करते हैं, तो रेडियो-तरंगों केरियर=स्थ-बनकर उस ध्वनि को विश्व-भर्त में पहुँचा देती है। उसी प्रकार ॐकार पर आरोपित प्राण परब्रह्म तक पहुँच जाता है।]

तावद्रथेन गन्तव्यं यावद्रथपथि स्थितः ।

स्थात्वा रथपतिस्थानं रथमुत्सृज्य गच्छति ॥ ३ ॥

उस ( प्रणवरूपी ) रथ के द्वारा तब तक चलना चाहिए, जब तक कि रथ द्वारा चलने योग्य मार्ग पूर्ण न हो जाये । जब वह मार्ग (लक्ष्य) पूर्ण हो जाता है, तब उस रथ को छोड़ कर मनुष्य स्वतः ही प्रस्थान कर जाता है ॥ ३ ॥

[ जब ध्वनि-तंसंगेभेदियो तंसंगों के साथ अपने लक्ष्य-द्रांजिस्टर तक पहुँच जाती हैं, तो वे उसे छोड़कर अपने वास्तविक रूप में पुनः प्रकट हो जाती हैं । इसी प्रकार प्राण को चाहिए कि वह अपने इष्ट-लक्ष्य तक पहुँच कर बाहक-रथ (कैरियर) को छोड़कर अपने को इष्ट के साथ संयुक्त कर दे, यह परमर्श ऋषि दे रहे हैं । ]

**मात्रालिङ्गपदं त्यक्त्वा शब्दव्यञ्जनवर्जितम् ।**

**अस्वरेण मकारेण पदं सूक्ष्मं हि गच्छति ॥ ४ ॥**

प्रणव की अकारादि जो मात्राएँ हैं तथा उन (मात्राओं) में जो लिङ्गभूत पद हैं, उन सभी के आश्रयभूत संसार का चिन्तन करते हुए उसका त्याग कर, स्वरहीन 'मकार' वाची ईश्वर का ध्यान करने से साधक की क्रमशः उस सूक्ष्म पद में प्रविष्टि हो जाती है । वह परम तत्त्व ('अकार' आदि स्वरों तथा 'काकारादि' व्यंजनों रूपी) सभी प्रपंचों से पूर्णतया दूर है ॥ ४ ॥

**शब्दादि विषयान्पञ्च मनश्चैवातिचञ्चलम् ।**

**चिन्तयेदात्मनो रश्मीन्प्रत्याहारः स उच्यते ॥ ५ ॥**

शब्द, स्पर्श आदि पाँचों विषय तथा इनको ग्रहण करने वाली समस्त इन्द्रियाँ एवं अति चंचल मन-इनको सूर्य के सदृश अपनी आत्मा की रश्मियों के रूप में देखें अर्थात् अत्मा के प्रकाश से ही मन की सत्ता है और उसी प्रकाश स्वरूप आत्मा की बाह्य सत्ता से शब्द आदि विषय भी सत्तावान् हैं । इस प्रकार से आत्म-चिन्तन को ही प्रत्याहार कहते हैं ॥ ५ ॥

**प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा ।**

**तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥ ६ ॥**

प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क तथा समाधि इन छः अंगों से युक्त साधना को योग कहा गया है ॥ ६ ॥

**यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते धमनान्मलाः ।**

**तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणधारणात् ॥ ७ ॥**

जिस प्रकार पर्वतों में उत्पन्न स्वर्ण आदि धातुओं का मैल अग्नि में तपाने से भस्म हो जाता है । उसी प्रकार समस्त इन्द्रियों के द्वारा किये गये दोष प्राणों को रोकने अर्थात् प्राणायाम की प्रक्रिया द्वारा भस्म हो जाते हैं ॥ ७ ॥

[ प्राण शक्ति का भोगों की ओर भटकना ही पापों को जन्म देता है, उसके नियमन से पाप की संभावना समाप्त होने लगती है । ]

**प्राणायामैर्देहेदोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम् ।**

**प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरानुगुणान् ॥ ८ ॥**

**किल्बिषं हि क्षयं नीत्वा रुचिरं चैव चिन्तयेत् ॥ ९ ॥**

प्राणायाम के माध्यम से दोषों (अर्थात् इन्द्रियों में एकत्रित विकारों) को तथा धारणा के माध्यम से पापों को (अर्थात् कुसंस्कारों को) जलाकर भस्म कर डालें । प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रिय के संसर्ग से उत्पन्न

दोष तथा ध्यान के द्वारा अनीश्वरीय गुणों का नाश होता है। इस प्रकार संचित पापों एवं उन इन्द्रियों के कुसंस्कारों का शमन करते हुए अपने इष्ट के मनोहारी रूप का चिन्तन करना चाहिए॥ ८-९॥

[प्राणायाम के साथ इष्ट के मनमोहक रूप के स्मरण से मन सहज ही उस ओर लग जाता है, अतः प्राण-प्रक्रिया तेजस्वी हो जाती है।]

**रुचिरं रेचकं चैव वायोराकर्षणं तथा ।**

**प्राणायामास्त्रयः प्रोक्ता रेचपूरककुम्भकाः ॥ १० ॥**

इस प्रकार अपने इष्ट के सुन्दर रूप का ध्यान करते हुए वायु को अन्तःकरण में स्थिर रखना (अर्थात् कुम्भक करना), रेचक (अर्थात् श्वास को निःसृत करना) और पूरक (अर्थात् वायु को अन्दर खींचना)। इस प्रकार रेचक, पूरक एवं अन्तःबाह्य कुम्भक के रूप में तीन तरह के प्राणायाम कहे गये हैं॥ १०॥

**सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।**

**त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥ ११ ॥**

प्राण शक्ति की वृद्धि करने वाला साधक व्याहृतियों एवं प्रणव सहित सम्पूर्ण गायत्री महामन्त्र का उसके शीर्ष भाग सहित तीन बार मानस-पाठ करते हुए पूरक, कुम्भक तथा रेचक करे। इस प्रकार की प्रक्रिया को एक 'प्राणायाम' कहा गया है॥ ११॥

**उत्क्षिप्य वायुमाकाशे शून्यं कृत्वा निरात्मकम् ।**

**शून्यभावे नियुज्जीयाद्रेचकस्येति लक्षणम् ॥ १२ ॥**

(नासिका द्वारा) प्राणवायु को आकाश में निकालकर हृदय को वायु से रहित एवं चिन्तन से रिक्त करते हुए शून्यभाव में मन को स्थिर करने की प्रक्रिया ही 'रेचक' है। यही 'रेचक प्राणायाम' का लक्षण है॥ १२॥

**वक्त्रेणोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः ।**

**एवं वायुर्ग्रहीतव्यः पूरकस्येति लक्षणम् ॥ १३ ॥**

जिस प्रकार पुरुष मुख के माध्यम से कमल-नाल द्वारा शनैः-शनैः जल को ग्रहण करता है, उसी प्रकार मन्द गति से प्राण वायु को अपने अन्तःकरण में धारण करना चाहिए। यही प्राणायाम के अन्तर्गत 'पूरक' का लक्षण है॥ १३॥

**नोच्छ्वसेन्न च निश्चसेन्नैव गात्राणि चालयेत् ।**

**एवं भावं नियुज्जीयात्कुम्भकस्येति लक्षणम् ॥ १४ ॥**

श्वास को न तो अन्तःकरण में आकृष्ट करे और न ही बहिर्गमन करे तथा शरीर में कोई हलचल भी न करे। इस तरह से प्राण वायु को रोकने की प्रक्रिया को 'कुम्भक' प्राणायाम का लक्षण कहा गया है॥ १४॥

**अन्धवत्पश्य रूपाणि शब्दं बधिरवच्छृणु ।**

**काष्ठवत्पश्य वै देहं प्रशान्तस्येति लक्षणम् ॥ १५ ॥**

जिस भाँति अन्धे को कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी भाँति साधक नाम रूपात्मक अन्य कुछ भी न देखे। शब्द को बधिर की भाँति श्रवण करे और शरीर को काष्ठ की तरह जाने। यही प्रशान्त का लक्षण है॥ १५॥

[ आँख-कान आदि प्राण के संयोग से ही देखते-सुनते हैं। जब प्राण-प्रणव की ओर लग जाते हैं, तो इन्हियों से प्रकाश पूर्ण ध्वनि तरंगें टकराती भर हैं। उनका बोध करने वाला ( प्राण ) वहाँ न होने से अंधे-बहरे जैसी ही स्थिति हो जाती है। ]

**मनःसंकल्पकं ध्यात्वा संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान् ।**

**धारयित्वा तथात्मानं धारणा परिकीर्तिता ॥ १६ ॥**

बुद्धिमान् मनुष्य मन को संकल्प के रूप में जानकर, उसे आत्मा ( बुद्धि ) में लय कर दे। तत्पश्चात् उस आत्मारूपी सद्बुद्धि को भी परमात्म सत्ता के ध्यान में स्थिर कर दे। इस तरह की क्रिया को ही 'धारणा की स्थिति' के रूप में जाना जाता है ॥ १६ ॥

**आगमस्याविरोधेन ऊहनं तर्कं उच्यते ।**

**समं मन्येत यल्लब्ध्वा स समाधिः प्रकीर्तितः ॥ १७ ॥**

शास्त्रानुकूल 'ऊहा' अर्थात् विचार करना 'तर्क' कहा जाता है। ऐसे 'तर्क' को प्राप्त करके दूसरे अन्य सभी प्राप्त होने वाले पदार्थों को तुच्छ ( निकृष्ट ) मान लिया जाता है। इस प्रकार की स्थिति को ही 'समाधिः' की अवस्था कहा जाता है ॥ १७ ॥

[ भौतिक पदार्थ वरेण्य नहीं-इष्ट ही वरेण्य है, यह तर्क अन्तःकरण में बैठते ही प्राणों को इष्ट में समाहित कर देता है। ]

**भूमौ दर्भासने रम्ये सर्वदोषविवर्जिते ।**

**कृत्वा मनोमर्यां रक्षां जप्त्वा वै रथमण्डले ॥ १८ ॥**

भूमि को स्वच्छ, समतल करके रमणीय तथा ( अशुद्ध, विषय एवं कीट आदि ) सभी दोषों से रहित क्षेत्र में मानसिक रक्षा ( दिग्बन्धादि ) करता हुआ रथ मण्डल ( ओंकार ) का जप करे ॥ १८ ॥

**पद्मकं स्वस्तिकं वापि भद्रासनमथापि वा ।**

**बद्ध्वा योगासनं सम्यगुत्तराभिमुखः स्थितः ॥ १९ ॥**

पद्मासन, स्वस्तिकासन और भद्रासन में से किसी एक योगासन में आसीन होकर उत्तराभिमुख हो करके बैठना चाहिए ॥ १९ ॥

**नासिकापुटमङ्गल्या पिधायैकेन मारुतम् ।**

**आकृष्य धारयेदग्निं शब्दमेव विचिन्तयेत् ॥ २० ॥**

तत्पश्चात् नासिका के एक छिद्र ( दायें ) को एक अङ्गुली से बन्द करके, दूसरे खुले छिद्र ( बायें ) से वायु को खींचे। फिर दोनों नासापुटों को बन्द करके उस प्राण वायु को धारण करे। उस समय तेजःस्वरूप शब्द ( ओंकार ) का ही चिन्तन करे ॥ २० ॥

**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ओमित्येतत्र रेचयेत् ।**

**दिव्यमन्त्रेण बहुधा कुर्यादामलमुक्तये ॥ २१ ॥**

वह शब्द रूप एकाक्षर प्रणव ( ॐ ) ही ब्रह्म है। तदनन्तर इसी एकाक्षर ब्रह्म ॐकार का ही ध्यान करता हुआ रेचक क्रिया सम्पन्न करे अर्थात् वायु का शनैः-शनैः निष्कासन करे। इस तरह से कई बार इस 'ओंकार' रूपी दिव्य मन्त्र से ( प्राणायाम की क्रिया द्वारा ) अपने चित्त के प्रमादादि मल ( विकारों ) को दूर करना चाहिए ॥ २१ ॥

पश्चाद्यायीत पूर्वोक्तक्रमशो मन्त्रविद्बुधः ।

स्थूलादिस्थूलसूक्ष्मं च नाभेरुद्धर्मुपक्रमः ॥ २२ ॥

इस प्रकार प्राणायाम के द्वारा सभी दोषों का शमन करते हुए पूर्व निर्दिष्ट क्रम (अकार, उकार, मकार) के अनुसार 'ओंकार' का ध्यान करते हुए प्राणायाम करे। इस तरह का 'प्रणव गर्भ' प्राणायाम नाभि के ऊर्ध्व भाग अर्थात् हृदय में (विराट् आदि का) ध्यान करते हुए स्थूलातिस्थूल मात्रा में सम्पन्न करे ॥ २२ ॥

[ प्राणायाम की अस्सी आवृत्ति-स्थूल मात्रा तथा एक श्वास में अस्सी प्रणव मन्त्र का जप-अति स्थूल मात्रा कहलाती है । ]

तिर्यगूर्ध्वमधोदृष्टिं विहाय च महामतिः ।

स्थिरस्थायी विनिष्कम्पः सदा योगं समभ्यसेत् ॥ २३ ॥

अपनी दृष्टि को ऊपर अथवा नीचे की ओर तिरछा घुमाकर केन्द्रित करते हुए बुद्धिमान् साधक स्थिरता पूर्वक निष्कम्प भाव से स्थित होकर योग का अभ्यास करे ॥ २३ ॥

तालमात्राविनिष्कम्पो धारणायोजनं तथा ।

द्वादशमात्रो योगस्तु कालतो नियमः स्मृतः ॥ २४ ॥

योगाभ्यास की यह क्रिया तालवृक्ष की भाँति कुछ ही काल में फल प्रदान करने वाली है। इसका अभ्यास पहले से सुनिश्चित योजनानुसार ही करने योग्य है अर्थात् बीच में उसे घटाना, बढ़ाना या रोकना नहीं चाहिए। द्वादश मात्राओं की आवृत्ति भी समान समय में ही पूर्ण करनी चाहिए ॥ २४ ॥

अघोषमव्यञ्जनमस्वरं च अतालुकण्ठोषमनासिकं च यत् ।

अरेफजातमुभयोष्पवर्जितं यदक्षरं न क्षरते कर्थंचित् ॥ २५ ॥

इस प्रणव नाम से प्रसिद्ध घोष का उच्चारण बाह्य प्रयत्नों से नहीं होता है। यह व्यञ्जन एवं स्वर भी नहीं है। इसका उच्चारण कण्ठ, तालु, ओष्ठ एवं नासिका आदि (सानुनासिक) से भी नहीं होता। इसका दोनों ओष्ठों के अन्तः में स्थित दन्त नामक क्षेत्र से भी उच्चारण नहीं होता। 'प्रणव' वह श्रेष्ठ अक्षर है, जो कभी भी च्युत नहीं होता। ओंकार का प्राणायाम के रूप में अभ्यास करना चाहिए तथा मन गुञ्जायमान घोष में सदैव लगाए रहना चाहिए ॥ २५ ॥

[ ओंकार को 'उद्गीथ' कहा गया है। इसे उद्गीथ के माध्यम से ही झंकृत किया जाता है । ]

येनासौ गच्छते मार्गं प्राणस्तेनाभिगच्छति ।

अतस्तमभ्यसेन्नित्यं यन्मार्गगमनाय वै ॥ २६ ॥

योगी पुरुष जिस मार्ग का अवलोकन करता है अर्थात् मन के माध्यम से जिस स्थान को प्रवेश करने योग्य मानता है, उसी मार्ग (द्वार) से प्राण और मन के साथ गमन कर जाता है। प्राण श्रेष्ठ मार्ग (द्वार) से गमन करे, इस हेतु साधक को नित्य-नियमित अभ्यास करते रहना चाहिए ॥ २६ ॥

हृदद्वारं वायुद्वारं च मूर्धद्वारमथापरम् ।

मोक्षद्वारं बिलं चैव सुषिरं मण्डलं विदुः ॥ २७ ॥

वायु के प्रवेश का मार्ग हृदय ही है। इससे ही प्राण सुषुम्णा के मार्ग में प्रवेश करता है। इससे ऊपर ऊर्ध्वगमन करने पर सबसे ऊपर मोक्ष का द्वार ब्रह्मरन्ध्र है। योगी लोग इसे सूर्यमण्डल के रूप में जानते हैं। इसी सूर्यमण्डल अथवा ब्रह्मरन्ध्र का बेधन करके प्राण का परित्याग करने से मुक्ति प्राप्त होती है ॥ २७ ॥

भयं क्रोधमथालस्यमतिस्वप्नातिजागरम् ।

अत्याहारमनाहारं नित्यं योगी विवर्जयेत् ॥ २८ ॥

भय, क्रोध, आलस्य, अधिक शयन, अत्यधिक जागरण करना, अधिक भोजन करना या फिर बिल्कुल निराहार रहना आदि समस्त दुर्गुणों को योगी सदैव के लिए परित्याग कर दे ॥ २८ ॥

[ गीता ( ६.१७ ) में यही भाव 'युक्ताहार विहारस्य.....' आदि शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है । ]

अनेन विधिना सम्यङ् नित्यमध्यस्यते क्रमात् ।

स्वयमुत्पद्यते ज्ञानं त्रिभिर्मासैर्न संशयः ॥ २९ ॥

इस प्रकार नियम पूर्वक जो भी साधक क्रमशः उत्तरोत्तर प्रगति करता हुआ नियमित अभ्यास करता है, उसे तीन मास में ही स्वयमेव ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ २९ ॥

चतुर्भिः पश्यते देवान्यञ्चभिर्विततःक्रमः ।

इच्छ्याप्रोति कैवल्यं षष्ठे मासि न संशयः ॥ ३० ॥

वह योगी-साधक नित्य-नियमित अभ्यास करता हुआ चार मास में ही देव दर्शन की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है । पाँच माह में देव-गणों के समान शक्ति-सामर्थ्य से युक्त हो जाता है तथा छः मास में अपनी इच्छानुसार निःसन्देह कैवल्य (मोक्ष) को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है ॥ ३० ॥

पार्थिवः पञ्चमात्रस्तु चतुर्मात्रस्तु वारुणः ।

आग्रेयस्तु त्रिमात्रोऽसौ वायव्यस्तु द्विमात्रकः ॥ ३१ ॥

पृथिवी तत्त्व की धारणा के समय में ओंकार रूप प्रणव की पाँच मात्राओं का, वरुण अर्थात् (जल तत्त्व) की धारणा के समय में (प्रणव की) चार मात्राओं का, अग्नि तत्त्व की धारणा के समय में (प्रणव की) तीन मात्राओं का तथा वायु तत्त्व की धारणा के समय में (प्रणव की) दो मात्राओं के स्वरूप का ध्यान करना चाहिए ॥ ३१ ॥

एकमात्रस्तथाकाशो हृद्धमात्रं तु चिन्तयेत् ।

संधिं कृत्वा तु मनसा चिन्तयेदात्मनात्मनि ॥ ३२ ॥

(इसके पश्चात्) आकाश तत्त्व की धारणा करते समय प्रणव की एक मात्रा का तथा स्वयं ओंकार रूप प्रणव की धारणा करते समय उसकी अर्द्धमात्रा का चिन्तन करे । अपने शरीर में ही मानसिक धारणा के माध्यम से पंचभूतों (पृथिवी आदि तत्त्व) की सिद्धि प्राप्त करे और उनका ध्यान करे । इस तरह के कृत्य से प्रणव की धारणा द्वारा पञ्चभूतों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

त्रिंशत्सार्धाङ्गुलः प्राणो यत्र प्राणैः प्रतिष्ठितः ।

एष प्राण इति ख्यातो बाह्यप्राणस्य गोचरः ॥ ३३ ॥

साढ़े तीस अङ्गुल लम्बा प्राण धास के रूप में जिसमें प्रतिष्ठित है, वही इस प्राण वायु का वास्तविक आश्रय है । यही कारण है कि इसे प्राण के रूप में जाना जाता है । जो बाह्य प्राण है, उसे इन्द्रियों के द्वारा देखा जाता है ॥ ३३ ॥

अशीतिश्च शतं चैव सहस्राणि त्रयोदशा ।

लक्षश्चैको विनिश्चास अहोरात्रप्रमाणतः ॥ ३४ ॥

इस बाह्य प्राण में एक लाख तेरह सहस्र छः सौ अस्सी निःश्वासों (श्वास-प्रश्वास) का आवागमन एक दिन एवं रात्रि में होता है ॥ ३४ ॥

[ प्रायः दिन-रात्रि में श्वासों की संख्या इक्कीस हजार छः सौ मानी जाती है। जो प्रति मिनट पन्द्रह निःश्वास के हिसाब से ठीक बैठती है, यहाँ इतनी संख्या का उल्लेख शोध का विषय है । ]

**प्राण आद्यो हृदि स्थाने अपानस्तु पुनर्गुदे ।**

**समानो नाभिदेशो तु उदानः कण्ठमाश्रितः ॥ ३५ ॥**

आदि प्राण का निवास हृदय क्षेत्र में, अपान का निवास गुदा स्थान में, समान का नाभि प्रदेश में एवं उदान का निवास कण्ठ प्रदेश में है ॥ ३५ ॥

**व्यानः सर्वेषु चाङ्गेषु व्याप्य तिष्ठति सर्वदा ।**

**अथ वर्णास्तु पञ्चानां प्राणादीनामनुक्रमात् ॥ ३६ ॥**

व्यान समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गों में व्यापक होकर सदैव प्रतिष्ठित रहता है। अब इसके पश्चात् समस्त प्राण आदि पाँचों वायुओं के रंग का क्रमानुसार वर्णन किया जाता है ॥ ३६ ॥

**रक्तवर्णो मणिप्रख्यः प्राणवायुः प्रकीर्तिः ।**

**अपानस्तस्य मध्ये तु इन्द्रगोपसमप्रभः ॥ ३७ ॥**

इस प्राण वायु को लाल रंग की मणि के सदृश लोहित वर्ण की संज्ञा प्रदान की गई है। अपान वायु को गुदा के बीचो-बीच इन्द्रगोप-बीर बहूटी नामक गहरे लाल (रंग वाले एक बरसाती कीड़े के) रंग का माना गया है ॥ ३७ ॥

**समानस्तु द्वयोर्मध्ये गोक्षीरधवलप्रभः ।**

**आपाणद्वार उदानश्च व्यानो ह्यर्चिःसमप्रभः ॥ ३८ ॥**

नाभि के मध्य क्षेत्र में समान वायु स्थिर है। यह गो-दुर्घ या स्फटिक मणि की भाँति शुभ्र कान्तियुक्त है। उदान वायु का रंग धूसर अर्थात् मटमैला है और व्यान वायु का रंग अग्निशिखा की भाँति तेजस्वी है ॥ ३८ ॥

**यस्येदं मण्डलं भित्त्वा मारुतो याति मूर्धनि ।**

**यत्र कुत्र मियेद्वापि न स भूयोऽभिजायते न स भूयोऽभिजायत इत्युपनिषत् ॥ ३९ ॥**

जिस श्रेष्ठ योगी अथवा साधक का प्राण इस मण्डल (पञ्चतत्वात्मक शरीर-क्षेत्र, वायु स्थान एवं हृदय प्रदेश) का बेधन कर मस्तिष्क के क्षेत्र में प्रविष्ट कर जाता है, वह अपने शरीर का जहाँ कहीं भी परित्याग करे, पुनः जन्म नहीं लेता अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है, यही उपनिषद् (रहस्य) है ॥ ३९ ॥

**॥ शान्तिपाठः ॥**

**ॐ सह नाववतु.....इति शान्तिः ॥**

**॥ इति अमृतनादोपनिषत्समाप्ता ॥**



## ॥ ईशावास्योपनिषद् ॥

यजुर्वेद के ४० वें अध्याय को ईशावास्योपनिषद् कहा गया है। इसे उपनिषद् शृंखला में प्रथम स्थान प्राप्त है। इसमें इस विराट् सृष्टि के अन्तर्गत दृश्य जगत् और जीवन को 'ईश्वर का आवास' कह कर ईश्वर के सर्वव्यापी सर्वसमर्थ स्वरूप का बोध कराते हुए, जीवन को उसी के अनुशासन में गरिमामय ढंग से सुख-सन्तोषपूर्वक जीते हुए उसी के साथ एकरूप हो जाने का निर्देश दिया गया है। इसके १८ मन्त्र गीता के १८ अध्यायों की तरह महत्त्वपूर्ण कहे गये हैं।

प्रथम मंत्र में जीवन और जगत् को ईश्वर का आवास कहकर जीवन सम्पदा का उपभोग मर्यादापूर्वक करने का निर्देश है। 'यह धन किसका है?' प्रश्न करके ऋषि ने मनुष्य को विभूतियों और सम्पदाओं के अभिमान से मुक्त होने का अमोघ सूत्र दे दिया है। दूसरे मन्त्र में लम्बी आयु और बन्धन मुक्त रहकर कर्मरत रहने के सूत्र हैं, तो तीसरे मन्त्र में अनुशासन उलङ्घन के दुष्परिणामों का संकेत है। मन्त्र क्रमांक ४,५ एवं ८ में परब्रह्म के स्वरूप का बोध है, तो ६,७ में उसकी अनुभूति करने वालों के लक्षण दर्शाये गये हैं। क्रमांक ९ से १४ में विद्या-अविद्या तथा सृजन एवं विनाश के बीच सन्तुलन स्थापित करने का रहस्य दिया गया है। क्रमांक १५ एवं १६ में परमात्मा से अपने स्वरूप का बोध कराने की प्रार्थना तथा बोध होने की मनःस्थिति का वर्णन है। क्रमांक १७,१८ में शरीर की नश्वरता का बोध कराते हुए अग्निदेव से श्रेष्ठ मार्ग द्वारा जीवन लक्ष्य तक ले चलने की प्रार्थना की गयी है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।  
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

'ॐ' रूप में जिसे अभिव्यक्त किया जाता है, वह परब्रह्म स्वयं में सब प्रकार से पूर्ण है और यह सृष्टि भी स्वयं में पूर्ण है। उस पूर्ण तत्त्व में से इस पूर्ण विश्व की उत्पत्ति हुई है। उस पूर्ण में से यह पूर्ण निकाल लेने पर भी वह शेष भी पूर्ण ही रहता है। आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक ताप-सन्ताप शान्त हों।

[ पूर्ण में से पूर्ण निकाल लेने पर पूर्ण ही शेष रहने की ऋषि की अनुभूति अनोखी है। वर्तमान विज्ञान भी इस अवधारणा का साक्षात्कार नहीं कर सका है । ]

ॐ ईशावास्यमिदः सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।  
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृथः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥

इस सृष्टि में जो कुछ भी (जड़ अथवा चेतन) है, वह सब ईश द्वारा आवृत-आच्छादित है (उसी के अधिकार में है)। केवल उसके द्वारा (उपयोगार्थ) छोड़े गये (सौंपे गये) का ही उपभोग करो। (अधिक का) लालच मत करो, (क्योंकि यह) धन किसका है? (अर्थात् किसी व्यक्ति का नहीं-केवल 'ईश' का ही है) ॥ १ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतः समाः ।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

यहाँ (ईश्वर से अनुशासित इस जगत् में) कर्म करते हुए सौ वर्ष (पूर्णायु) तक जीने की कामना करें। (इस प्रकार अनुशासित रहने से) कर्म मनुष्य को लिप्त (विकारग्रस्त) नहीं करते। (विकार मुक्त जीवन के निमित्त) यह (मार्गदर्शन) तुम्हारे लिए है, इसके अतिरिक्त परम कल्याण का और कोई अन्य मार्ग नहीं है ॥ २ ॥

[ऋषियों ने जीवन के ऐसे अनुशासन बतलाये हैं, जिनका अनुपालन करके मनुष्य लम्बी आयु भी पा सकता है और कर्मबन्धनों से मुक्त भी हो सकता है।]

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।

ताःस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

वे (इस अनुशासन का उल्लंघन करने वाले) लोग 'असुर्य' (केवल शरीर एवं इन्द्रियों की शक्ति पर निर्भर-सद्विवेक की उपेक्षा करने वाले) नाम से जाने जाते हैं। वे (जीवन भर) गहन अन्धकार (अज्ञान) से घिरे रहते हैं। वे आत्मा (आत्म चेतना के निर्देशों) का हनन करने वाले लोग, प्रेत रूप में (शरीर छूटने पर) भी वैसे ही (अन्धकार युक्त) लोकों में जाते हैं ॥ ३ ॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनदेवा आपूवन्पूर्वमर्षत् ।

तद्वावतोऽ न्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

अविचल वह ईश एक ही है, जो मन से भी अधिक वेगवान् है। वह सबसे पुरातन एवं स्फूर्तिवान् है, उसे देवगण (देवता अथवा इन्द्रिय समूह) प्राप्त नहीं कर पाते। वह स्थिर रहते हुए भी दौड़कर अन्य (गतिशीलों) से आगे निकल जाता है। उसके अन्तर्गत (अनुशासन में रहकर) गतिशील वायु- अप् (सृष्टि के मूल घटक) को धारण किये रहता है ॥ ४ ॥

[वर्तमान विज्ञान अभी प्रकाश से अधिक गतिशील तत्त्वों को खोज ही रहा है, मन की गति का तो मापन ही नहीं किया जा सका है। ऋषियों ने अविचल, किन्तु मन से भी अधिक गतिमान् का साक्षात्कार किया था।]

तदेजति तत्त्वैजति तद्वैर तद्वन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

वह (परमात्मतत्त्व) गतिशील भी है और स्थिर (भी) है। वह दूर से दूर भी है और निकट से निकट भी है। वह इन सब (जड़-चेतन जगत्) के अंदर भी है तथा सबके बाहर (उसे आवृत किये हुए) भी है ॥ ५ ॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्तते ॥ ६ ॥

व्यक्ति (जब) सभी भूतों (जड़-चेतन सृष्टि) को (इस) आत्म तत्त्व में ही स्थित अनुभव करता है तथा सभी भूतों के अन्दर इस आत्म तत्त्व को समाहित अनुभव करता है, तब वह किसी प्रकार भ्रमित नहीं होता ॥ ६ ॥

[केवल पढ़े हुए ज्ञान से भ्रमों का निवारण संभव नहीं है, उसके लिए अनुभूति परक ज्ञान अनिवार्य है।]

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

जिस स्थिति में (व्यक्ति) यह (मर्म) जान लेता है कि यह आत्म तत्त्व ही समस्त भूतों के रूप में प्रकट हुआ है, (तो) उस एकत्व की अनुभूति की स्थिति में मोह अथवा शोक कहाँ टिक सकते हैं? अर्थात् ऐसी स्थिति में व्यक्ति मोह एवं शोक से परे हो जाता है ॥ ७ ॥

**स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्त्राविरः शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी**

**परिभूः स्वयंभूर्यथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥**

वह (परमात्मा) सर्वव्यापी है, तेजस्वी है। वह देहरहित, स्त्रायुरहित एवं छिद्र (वर्ण) रहित है। वह शुद्ध और निष्पाप है। वह कवि (क्रान्तदर्शी), मनीषी (मन पर शासन करने वाला), सर्वजयी और स्वयं ही उत्पन्न होने वाला है। उसने अनादि काल से ही सबके लिए यथायोग्य अर्थों (साधनों) की व्यवस्था बनायी है ॥ ८ ॥

**अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।**

**ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाः रताः ॥ ९ ॥**

जो केवल अविद्या (पदार्थपरक विद्या) की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकार में घिर जाते हैं और जो केवल विद्या (चेतनापरक विद्या) की ही उपासना करते हैं, वे भी उसी प्रकार के अन्धकार में फँस जाते हैं ॥ ९ ॥

**अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।**

**इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विच्चक्षिरे ॥ १० ॥**

जिन देवपुरुषों ने हमारे लिए (इन विषयों को) विशेष रूप से कहा है, हमने उन धीर पुरुषों से सुना है कि विद्या (आध्यात्मिक ज्ञान) का प्रभाव भिन्न है तथा अविद्या (भौतिक ज्ञान) का प्रभाव उससे भिन्न है ॥ १० ॥

**विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयः सह ।**

**अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्रुते ॥ ११ ॥**

(अतएव) विद्या और अविद्या- इन दोनों को एक साथ जानो। (इनमें से) अविद्या द्वारा मृत्यु को पार करके विद्या द्वारा अमरत्व की प्राप्ति की जा सकती है ॥ ११ ॥

**अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।**

**ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याःरताः ॥ १२ ॥**

जो लोग केवल 'असम्भूति' (बिखराव-विनाश) की उपासना करते हैं (उन्हीं प्रवृत्तियों में रमे रहते हैं), वे घोर अन्धकार (अज्ञान) में घिर जाते हैं और जो केवल सम्भूति (संगठन-सृजन) की ही उपासना करते हैं, वे भी उसी प्रकार के अंधकार में फँस जाते हैं ॥ १२ ॥

**अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।**

**इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विच्चक्षिरे ॥ १३ ॥**

जिन देवपुरुषों ने हमारे लिए (इन विषयों को) विशेष रूप से कहा है, हमने उन धीर पुरुषों से सुना है कि सम्भूति योग का प्रभाव भिन्न है तथा असम्भूति योग का प्रभाव उससे भिन्न है ॥ १३ ॥

**संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयः सह ।**

**विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्रुते ॥ १४ ॥**

(इसलिए) सम्भूति (समय के अनुरूप नया सृजन) तथा असम्भूति-विनाश (अवाञ्छनीय को समाप्त करना) - इन दोनों कलाओं को एक साथ जानो । विनाश की कला से मृत्यु को पार करके (अनिष्टकारी को नष्ट करके मृत्यु भय से मुक्ति पाकर) तथा सम्भूति (उपर्युक्त निर्माण) की कला से अमृतत्व की प्राप्ति की जाती है ॥ १४ ॥

**हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।**

**तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्ट्ये ॥ १५ ॥**

सोने के (चमकदार-तुभावने) पात्र से सत्य (आदित्यमण्डलस्थ ब्रह्म) का मुख ढँका हुआ है । हे पूषन् ! मुझ सत्यान्वेषण करने वाले के लिए (आत्मावलोकन के इच्छुक के लिए) उसे (उस आवरण को) अपावृत करें- हटा दें ॥ १५ ॥

**पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह । तेजो यत्ते रूपं**

**कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽ सावसौ पुरुषः सोऽ हमस्मि ॥ १६ ॥**

हे पूषन् (जगत्पोषक) !, हे एकाकी गमन करने वाले !, हे यम (नियन्त्रण करने वाले) !, हे सूर्य (सर्वप्रेरक) !, हे प्राजापत्य (सृजनशील) ! आप अपनी किरणों (चकाचौंध) को हटा लें, आपका जो अतिशय कल्याणकारी स्वरूप है, उसे मैं देख रहा हूँ (उसका ध्यान कर रहा हूँ) । यह जो पुरुष (आदित्य मण्डलस्थ ब्रह्म) है, वही मैं हूँ ॥ १६ ॥

**वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तः शरीरम् ।**

**ॐ क्रतो स्मर कृतः स्मर क्रतो स्मर कृतः स्मर ॥ १७ ॥**

यह जीवन (अस्तित्व) वायु-अग्नि आदि (पंचभूतों) तथा अमृत (सनातन आत्मचेतना) के संयोग से बना है । शरीर तो अन्ततः भस्म हो जाने वाला है । (इसलिए) हे संकल्प कर्ता ! तुम परमात्मा का स्मरण करो, अपनी सामर्थ्य का स्मरण करो और जो कर्म कर चुके हो, उसका पुनः-पुनः स्मरण करो ॥ १७ ॥

**अग्रे नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।**

**युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥ १८ ॥**

हे अग्रे (यज्ञ प्रभु) ! आप हमें श्रेष्ठ मार्ग से ऐश्वर्य की ओर ले चलें । हे विश्व के अधिष्ठातादेव ! आप कर्म मार्गों के श्रेष्ठ ज्ञाता हैं । हमें कुटिल पाप कर्मों से बचाएँ । हम पुनः-पुनः (भूयिष्ठ) नमन करते हुए आप से विनय करते हैं ॥ १८ ॥

**॥ शान्तिपाठः ॥**

**ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं ..... इति शान्तिः**

**॥ इति ईशावास्योपनिषत्समाप्ता ॥**



## ॥ एकाक्षरोपनिषद् ॥

कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में ऋषि एक ही अक्षर ( अविनाशी ) परमात्मा को अन्तरिक्ष में प्रवाहित सोम, सुषुम्ना में संचरित प्राण तथा पूरे विश्व में संचरित जीवन तत्त्व के रूप में अनुभव करते हैं । उन्हें ही विघ्नाशक अरिष्टनेमि से लेकर कुमार कार्तिकेय के रूप में सक्रिय देखते हैं । उसी परमात्म तत्त्व को इन्द्र, रुद्र, सूर्य आदि की विशेषताओं के रूप में तीनों गुणों, चारों वेदों तथा चराचर जगत् में संव्याप्त देखते हुए, साधकों को उसी एक मात्र अविनाशी की उपासना द्वारा अविद्याजन्य भ्रमों का उच्छेदन करके जीवन मुक्त-ज्योति स्वरूप हो जाने का उपदेश दिया गया है ।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥ ( द्रष्टव्य- अमृतनादोपनिषद् )

**एकाक्षरं त्वक्षरेऽत्रास्ति सोमे सुषुम्नायां चेह दृढी स एकः ।**

**त्वं विश्वभूर्भूतपतिः पुराणः पर्जन्य एको भुवनस्य गोप्ता ॥ १ ॥**

हे भगवन् ! आप अक्षर ( अर्थात् शाश्वत ), सोम, परब्रह्म के रूप में तथा सुषुम्ना ( मार्ग से सहस्रार चक्र ) में अपनी सत्ता सहित प्रतिष्ठित एक ही अविनाशी तत्त्व एकाक्षर में स्थित रहते हैं । आप ही विश्व के कारणरूप, प्राणिमात्र के स्वामी, पुराण पुरुष एवं सभी रूपों में विद्यमान हैं । ( आप ही ) पर्जन्य ( वर्षा आदि ) के द्वारा सभी लोकों की रक्षा करने वाले हैं ॥ १ ॥

**विश्वे निमग्नपदवीः कवीनां त्वं जातवेदो भुवनस्य नाथः ।**

**अजातमग्रे स हिरण्यरेता यज्ञस्त्वमेवैकविभुः पुराणः ॥ २ ॥**

( हे सर्वशक्तिमान् ! ) आप ही समस्त विश्व - वसुधा के कण - कण में जीवनी शक्ति के रूप में विद्यमान हैं । आप कवियों ( मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ) के आश्रयभूत हैं, समस्त लोकों की रक्षा करने वाले हैं । आप ही हिरण्यरेता ( अग्नि ) रूप और यज्ञ रूप भी हैं । आप ही एक मात्र विराट् एवं पूर्ण पुरुष हैं ॥ २ ॥

[ सृष्टि के संकल्प का बीज जब ब्रह्म के तेजस् में पकता है, तब उसे हिरण्यगर्भ कहते हैं तथा जब परब्रह्म संकल्प - बीज का आधान करता है, तो उसे हिरण्यरेता कहते हैं । ]

**प्राणः प्रसूतिर्भुवनस्य योनिव्यासं त्वया एकपदेन विश्वम् ।**

**त्वं विश्वभूर्योनिपारः स्वगर्भे कुमार एको विशिखः सुधन्वा ॥ ३ ॥**

जिस प्रकार माला के प्रत्येक दाने ( मनके ) में सूत्र ( धागा ) रहता है, उसी प्रकार आप ही प्रमुख ( सूत्र ) रूप से समस्त विश्व में प्राण रूप में संव्याप्त एवं उसके उत्पत्ति के कारण स्वरूप हैं । आपने ही समस्त विश्व को एक पग से माप लिया है, अतः आप ही इस विश्व संरचना के उत्पत्ति स्थल भी हैं । आप ही प्राण रूप में सर्वत्र व्याप्त ( विष्णु की तरह ) संसार के रक्षक रूप तथा श्रेष्ठ धनुष को धारण करने वाले कुमार ( कार्तिकेय ) स्वरूप हैं ॥ ३ ॥

वितत्य बाणं तरुणार्कवर्णं व्योमान्तरे भासि हिरण्यगर्भः ।

भासा त्वया व्योम्पि कृतः सुताक्ष्यस्त्वं वै कुमारस्त्वमरिष्टनेमिः ॥ ४ ॥

(हे परमात्मन् !) आप ही मध्याह्नकालीन सूर्य के तेज की भाँति बाण को अपनी ओर आकृष्ट करके, माया द्वारा रचित इन समस्त प्राणियों के हृदयरूप आकाश में प्रकाशमान हिरण्यगर्भ रूप हैं । आपके ही दिव्य प्रकाश से भगवान् भास्कर आकाश में प्रकाशित होते हैं । आप ही देवताओं के सेनापति 'कार्तिकेय' के रूप में प्रतिष्ठित हैं और गरुड़ की तरह सभी अरिष्टों (विघ्नों) का भली-भाँति नियमन करने वाले हैं ॥ ४ ॥

त्वं वज्रभृद्धूतपतिस्त्वमेव कामः प्रजानां निहितोऽसि सोमे ।

स्वाहा स्वधा यच्च वषट् करोति रुद्रः पशूनां गुहया निमग्नः ॥ ५ ॥

(हे परमात्मन् !) आप ही वज्र को धारण करने वाले इन्द्र के रूप में तथा (भवरोग नाशक) रुद्र रूप में समस्त प्रजाओं के स्वामी हैं । आप ही अभीष्ट फलदायी पितरों के रूप में चन्द्रलोक में स्थित हैं तथा देवों एवं पितरों की तृप्ति हेतु सम्पन्न होने वाले यज्ञ और श्राद्ध अर्थात् स्वाहा, स्वधा एवं वषट्कार रूप हैं । आप ही समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित हैं ॥ ५ ॥

धाता विधाता पवनः सुपर्णो विष्णुर्वराहो रजनी रहश्च ।

भूतं भविष्यत्प्रभवः क्रियाश्च कालः क्रमस्त्वं परमाक्षरं च ॥ ६ ॥

(हे भगवन् !) आप ही (प्राण रूप में) धाता (धारण करने वाले) तथा (सृष्टि-संरचना के रूप में) विधाता, पवन, गरुड़, विष्णु, वाराह, रात एवं दिन हैं । आप ही भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान भी हैं । सभी क्रियाएँ, कालगति और परमाक्षर (अर्थात् परम अविनाशी तत्त्व ॐकार) रूप में आप ही विद्यमान हैं ॥ ६ ॥

ऋचो यजूंषि प्रसवन्ति वक्त्रात्सामानि सप्राङ्गवसुरन्तरिक्षम् ।

त्वं यज्ञनेता हुतभुग्विभुश्च रुद्रास्तथा दैत्यगणा वसुश्च ॥ ७ ॥

जिसके मुख से ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद आदि उत्पन्न (प्रकट) होते हैं, वे आप ही हैं । आप ही सप्राट् (राजा अथवा सर्वत्र प्रकाशित) वसु, अन्तरिक्ष, यज्ञीय प्रक्रिया सम्पन्न करने वाले, यज्ञीय भाग ग्रहण करने वाले एवं सर्वशक्तिमान् हैं । आप ही एकादश रुद्र, (दिति की सन्तान) दैत्यरूप एवं सर्वत्र व्याप्त होने वाले (वसुरूप) हैं ॥ ७ ॥

स एष देवोऽप्य्बरगश्च चक्रे अन्येऽभ्यधिष्ठेत तमो निरुन्ध्यः ।

हिरण्मयं यस्य विभाति सर्वं व्योमान्तरे रश्मिमिमंसुनाभिः ॥ ८ ॥

(हे परमात्मन् !) विभिन्न रूपों वाले आप ही सूर्य मण्डल में विद्यमान तथा अन्यत्र (अन्य स्थान एवं जीव के हृदय में स्थित) अज्ञानात्मकार को विनष्ट करते हुए प्रतिष्ठित हैं । जिस विराट् स्वरूप के हृदयरूपी आकाश में 'ब्रह्माण्ड गर्भिणी' (ब्रह्माण्ड को अपने गर्भ में धारण करने वाली) 'सुनाभि' (श्रेष्ठ नाभि-केन्द्र या माया) स्थित है, वह भी आप ही हैं । सूर्यादि (ग्रह-नक्षत्रों) में जो प्रकाशमान रश्मियाँ हैं, वे आपकी ही प्रकाश किरणें हैं ॥ ८ ॥

स सर्ववेत्ता भुवनस्य गोप्ता नाभिः प्रजानां निहिता जनानाम् ।

प्रोता त्वमोता विचितिः क्रमाणां प्रजापतिश्छन्दमयो विगर्भः ॥ ९ ॥

वही (विराट्-ब्रह्म) सब कुछ जानने वाला, समस्त भुवनों का रक्षक एवं समस्त प्राणि-समुदाय का आधार स्वरूप नाभि (केन्द्र) है। अन्तर्यामी रूप में आप ही सर्वत्र ओत-प्रोत हैं। आप ही विविध प्रकार की गतियों के विश्रान्ति रूप हैं। आप की विष्णु के गर्भ (कमलनाल) में प्रजापति के रूप में स्थित हैं एवं वेद (छन्द) भी आप ही हैं ॥ ९ ॥

**सामैश्चिदन्तो विरजश्च बाहुं हिरण्मयं वेदविदां वरिष्ठम् ।**

**यमध्वरे ब्रह्मविदः स्तुवन्ति सामैर्यजुर्भिः क्रतुभिस्त्वमेव ॥ १० ॥**

वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ ज्ञानीजन रजोगुण से परे, स्वर्ण कान्ति वाले (विराट् पुरुष) के अन्त को साम आदि वेदों से भी नहीं जान पाते। ब्रह्मवेत्ताजन यज्ञों में यजुर्वेद के मन्त्रों से तथा सामवेदी जन साम मन्त्रों से जिसकी स्तुति करते हैं, वे आप ही हैं ॥ १० ॥

**त्वं स्त्री पुमांस्त्वं च कुमार एकस्त्वं वै कुमारी हृथ भूस्त्वमेव ।**

**त्वमेव धाता वरुणश्च राजा त्वं वत्सरोऽन्यर्यम् एव सर्वम् ॥ ११ ॥**

(हे परमात्मन्!) आप अकेले ही स्त्री, पुरुष, कुमार एवं कुमारी हैं। आप ही पृथिवी हैं। आप ही धाता, वरुण, सप्तरात्, संवत्सर, अग्नि और अर्यमा (सूर्य) हैं। आप ही सब कुछ हैं ॥ ११ ॥

**मित्रः सुपर्णश्चन्द्र इन्द्रो वरुणो रुद्रस्त्वष्टा विष्णुः सविता गोपतिस्त्वम् ।**

**त्वं विष्णुर्भूतानि तु त्रासि दैत्यांस्त्वयावृतं जगदुद्धवगर्भः ॥ १२ ॥**

(हे परम पुरुष!) सूर्य, गरुड़, चन्द्र, वरुण, रुद्र, प्रजापति, विष्णु, सविता, गोपति (इन्द्रियों या गौओं के स्वामी) जो कि वागादि इन्द्रियों के स्वामी कहे जाते हैं, वे आप ही हैं। आप ही विष्णु बन कर समस्त मानव जाति को दैत्यों के भय से त्राण दिलाने वाले हैं। आप ही जगत् के जनक भूगर्भरूप हैं। आपके द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आवृत है ॥ १२ ॥

**त्वं भूर्भुवः स्वस्त्वं हि स्वयंभूरथ विश्वतोमुखः ।**

**य एवं नित्यं वेदयते गुहाशयं प्रभुं पुराणं सर्वभूतं हिरण्मयम् ।**

**हिरण्मयं बुद्धिमतां परां गतिं स बुद्धिमान्बुद्धिमतीत्य तिष्ठतीत्युपनिषत् ॥ १३ ॥**

आप ही स्वयम्भू (स्वयं प्रकट होने वाले) एवं विश्वतोमुख (सर्वत्र मुख वाले) हैं। आप ही भूः, भुवः, स्वः आदि (लोकों) में प्रतिष्ठित हैं। जो भी मनुष्य अपने गुहारूप हृदय क्षेत्र में स्थित पुराण पुरुषोत्तम आदिपुरुष को 'प्राणस्वरूप' एवं 'प्रकाश स्वरूप' जानता है। वह (पुरुष) ब्रह्मज्ञानियों की परमगति को, अज्ञानग्रस्त भ्रम बुद्धि का अतिक्रमण करके प्राप्त कर लेता है। यही उपनिषद् (रहस्यात्मक ज्ञान) है ॥ १३ ॥

**॥ शान्तिपाठः ॥**

**ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥**

**॥ इति एकाक्षरोपनिषत्समाप्ता ॥**



## ॥ ऐतरेयोपनिषद् ॥

ऋग्वेदीय ऐतरेय आरण्यक के दूसरे आरण्यक के चौथे, पाँचवें एवं छठवें अध्याय ब्रह्मविद्या प्रधान हैं, अस्तु, इन्हें ऐतरेयोपनिषद् की मान्यता दी गयी है। प्रथम अध्याय में तीन खण्ड हैं तथा शेष (दूसरे, तीसरे) अध्यायों में एक-एक खण्ड ही हैं।

प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड में परमात्मा द्वारा सृष्टि रचना का संकल्प तथा लोकपालों की रचना का प्रसंग है। हिरण्यगर्भ से विराट् पुरुष एवं उसकी इन्द्रियों से देवताओं की उत्पत्ति दर्शायी गयी है। दूसरे खण्ड में देवताओं के लिए आवास रूप मनुष्य शरीर तथा क्षुधा-पिपासा की शान्ति हेतु अन्नादि की रचना का प्रसंग है। तीसरे खण्ड में प्राणों द्वारा अन्न को ग्रहण करने के उपाख्यान के साथ स्वयं परमात्मा द्वारा मूर्धा मार्ग से प्रवेश करने का प्रकरण दिया गया है। व्यक्ति रूप में उत्पन्न पुरुष की जिज्ञासा और परमात्म तत्त्व के साक्षात्कार से उसके कृतकृत्य होने का भी उल्लेख है। दूसरे अध्याय में ऋषि वामदेव द्वारा जीवन चक्र का अनुभव प्राप्त करने का वर्णन है। माता के गर्भ में जीव प्रवेश उसका प्रथम जन्म, बालक रूप में बाहर आना द्वितीय जन्म तथा मरणोन्तर योनियों में जाना तीसरा जन्म कहा गया है। तीसरे अध्याय में उपास्य कौन है, यह प्रश्न खड़ा करके प्रज्ञान रूप परमात्मा को ही उपास्य सिद्ध किया गया है। उसे प्राप्त करके काया त्याग के बाद परमधाम अमरपद प्राप्ति का निरूपण किया गया है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

**वाइमे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एथि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्संदधाम्यृतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥**

हे परमात्मन्! मेरी वाणी मन में स्थित हो, मन वाणी में प्रतिष्ठित हो। (हे परमात्मन्!) आप मेरे समक्ष प्रकट हों। मेरे लिए वेद का ज्ञान लाएँ (प्रकट करें)। मैं पूर्वश्रुत ज्ञान को विस्मृत न करूँ। इस स्वाध्यायशील प्रवृत्ति से मैं दिन और रात्रियों को एक कर दूँ (मेरा स्वाध्याय सतत चलता रहे)। मैं सदैव ऋत और सत्य बोलूँगा। ब्रह्म मेरी रक्षा करे। वह (ब्रह्म) वक्ता (आचार्य) की रक्षा करे। त्रिविध ताप शान्त हों।

### ॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

#### ॥ प्रथमः खण्डः ॥

इस उपनिषद् में ब्रह्म से लोकों, लोकपालों सहित मानवी सृष्टि, उसके विकास तथा मोक्ष सहित विराट् जीवन चक्र का उल्लेख है। ऋषि ने हर चरण को स्पष्ट एवं सरल ढंग से व्यक्त किया है। आवश्यकतानुसार अव्यक्त भावों को पाद टिप्पणियों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है-

**आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिष्टत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥ १ ॥**

सृष्टि के आरम्भ में एक मात्र आत्मा (परमात्म तत्त्व) ही था, उसके अतिरिक्त और कुछ भी सचेष्ट न था। (तब) उस (परमात्मा) ने विचार किया कि 'मैं लोकों का सृजन करूँ' ॥ १ ॥

---

★ अद्यार लाइब्रेरी से प्रकाशित दशोपनिषद् (१९३५) संग्रह के ऐतरेयोपनिषद् में प्रारंभिक तीन अध्याय और प्रकाशित हैं, जिनका समावेश अन्य किसी उपनिषत्संग्रह में न होने से यहाँ भी नहीं ग्रहण किया गया है।

[ मंत्र में 'नान्यत् किंचन मिष्ट' वाक्य है, मिष्ट शब्द पलक हिलाने के भाव में भी प्रयुक्त होता है, जो सबसे कम प्रयास में होने वाली दृश्य चेष्टा है। इसलिए पद का भाव यही लेना उचित है कि अन्य कुछ भी नहीं था तथा जो था वह किंचित् भी सचेष्ट नहीं था। पहली चेष्टा उस ब्रह्म के संकल्प के रूप में ही हुई। ]

**स इमाँल्लोकानसृजत अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्षं मरीचयः । पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः ॥ २ ॥**

उस (परमात्मा) ने अम्भ, मरीचि, मर और आपः लोकों की रचना की। द्युलोक से परे और स्वर्ग की प्रतिष्ठा वाले लोकों को अम्भ अन्तरिक्ष (प्रकाश लोक) को मरीचि, पृथिवीलोक को मर्त्यलोक और पृथिवी के नीचे (परे) आपः लोक है ॥ २ ॥

[ यहाँ लोकों के नाम और उनकी स्थितियाँ विचारणीय हैं। पृथिवी को 'मर' मृत्युलोक कहा ही जाता है। अन्तरिक्ष मरीचि अर्थात् प्रकाश किरणों से युक्त लोक मान्य है। मरीचि का अर्थ शब्द कल्पद्रुम के अनुसार पापों, क्षुद्र जीवों या तमस् को मारने वाला कहा गया है। अन्तरिक्ष में ऐसे तेजस्वी मारक प्रवाह होने की पुष्टि वर्तमान विज्ञान भी करता है। अम्भ=अम् (प्राण) तथा भः (भरणकर्ता) से बना है। द्युलोक से परे यह अव्यक्त रूप से सूक्ष्म प्राण का भरण करने वाला लोक है, जिसकी प्रत्यक्ष प्रतिष्ठा के रूप में द्युलोक है। पृथिवी के नीचे आपः लोक का भाव अनेक आचार्यों ने माना है। जो अधिक उचित प्रतीत नहीं होता। ]

**वस्तुतः ऋग्वेद ने आपः को सृष्टि के मूल क्रियाशील प्रवाह के रूप में व्यक्त किया है। आपः सृष्टि का आधारभूत द्रव्य है, इसलिए ऋषि ने उसे 'या अधस्तात् ता आपः' जो आधाररूप है वह आपः है, ऐसा कहा है। वही हिरण्यगर्भ रूप है, जिसे वेद ने 'स दाधार पृथिवी द्यामुतेमां' (पृथिवी और द्युलोक का आधार वही है) कहा है। आपः जल को भी कहते हैं; किन्तु वह अर्थ लेने से मंत्र का भाव सिद्ध नहीं होता। अस्तु, आपः को वेद की अवधारणा के आधार पर ही स्वीकार करना उचित है। इसे 'ताः' स्त्रीलिंग बहुवचन का संबोधन दिया गया है। इसी आपः तत्त्व के गर्भ में ब्रह्म का संकल्प बीज रूप में पककर विश्वरूप बनता है, यह गुण मातृसत्ता का होने से आपः को 'देवी आपः' या 'ताः आपः' कहना उचित है। इस उपनिषद् में भी अगले मंत्रों में आपः का उत्पादक प्रयोग बार-बार परिलक्षित होता है। ]**

**स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान् सृजा इति । सोऽद्वय एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छ्यत् ॥**

(लोकों का निर्माण करने के बाद) उसने विचार किया कि लोकों का निर्माण तो हो गया, अब मुझे लोकपालों की भी रचना करनी चाहिए। ऐसा चिन्तन करके उसने आपः (तरल प्रवाह) में से ही एक पुरुष को समुद्धृत करके (निकालकर) उसे मूर्तिमान् बनाया ॥ ३ ॥

[ पुरुष संबोधन सृजनात्मक पुरुषार्थ करने में समर्थ के लिए प्रयुक्त होता है। ब्रह्म ने उस मूल प्रवाह में से विराट् पुरुष को मूर्तरूप दिया अर्थात् विराट् संरचना की सामर्थ्य को जाग्रत् किया। ऋषि ने उसे 'अद्भ्य एव समुद्धृत्य' कहा है। अद्भ्यः का सीधा अर्थ जल होता है; किन्तु यहाँ भी उसका प्रयोग (आपः) विश्व सृजनशील प्रवाह ही है। ]

**तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डं मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः । प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कण्ठं निरभिद्येतां कण्ठाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्विशस्त्वङ् निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसः चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्रं निरभिद्यत शिश्राद्रेतो रेतस आपः ॥ ४ ॥**

उस विराट् पुरुष को देखकर ईश्वर ने सङ्कल्पपूर्वक तप किया। उस तप के प्रभाव से (उस हिरण्यगर्भ स्वरूप) पुरुष के शरीर से सर्वप्रथम अण्डे की तरह एक मुख छिर प्रकट हुआ। मुख से वाक् इन्द्रिय और

वाक् से अग्नि प्रकट हुई। (तदुपरान्त) नाक के छिद्र प्रकट हुए। नाक के छिद्रों से प्राण और प्राण से वायु उत्पन्न हुआ। (फिर) नेत्र उत्पन्न हुए। नेत्रों से चक्षु (अर्थात् देखने की शक्ति) और चक्षु से आदित्य प्रकट हुआ। (तत्पश्चात्) कान प्रकट हुए, कानों से श्रोत्र (श्रवण की शक्ति) और श्रोत्रों से दिशाओं का प्रादुर्भाव हुआ। (फिर) त्वचा प्रकट हुई, त्वचा से रोम और रोमों से वनस्पति रूप ओषधियों का प्राकट्य हुआ। (इसके अनन्तर) हृदय, हृदय से मन, मन से चन्द्रमा उदित हुआ। तदुपरान्त नाभि, नाभि से अपान और अपान से मृत्यु प्रादुर्भूत हुई। (फिर) जननेन्द्रिय, जननेन्द्रिय से वीर्य और वीर्य से आपः (जल या सृजनशीलता) की उत्पत्ति हुई॥ ४॥

[ यहाँ वीर्य से पुनः 'आपः' की उत्पत्ति कही गयी है। यह बड़ा वैज्ञानिक-मार्मिक कथन है। आपः सृष्टि कर्ता आधारभूत प्रवाह है। वीर्य में ही पुनः सृष्टि करने में समर्थ 'बीज' तैयार होता है। वीर्य उस सूक्ष्म आपः प्रवाह के चक्र को पुनः प्रयुक्त करने में सक्षम है-ऐसा ऋषि का अनुभव है। उसी आपः तत्त्व में चेतना पुनः रूप ग्रहण करने लगती है। ]

## ॥ द्वितीयः खण्डः ॥

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतंस्तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत्।  
ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन्प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥ १ ॥

परमेश्वर द्वारा रचे गये वे (अग्नि आदि) देवता इस (पूर्व वर्णित विश्व नियामक) महासमर में आ गिरे। उन्हें उन परमात्मा ने क्षुधा-पिपासा से युक्त कर दिया, तब उन देवों ने परमेश्वर से याचना की कि हमारे लिए कोई आश्रय स्थल विनिर्मित कीजिए (शरीरों का निर्माण कीजिए), जिससे हम अपना-अपना आहार ग्रहण कर सकें॥ १॥

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ॥ २ ॥

(देवताओं द्वारा ऐसा कहने पर) ईश्वर ने उनके लिए गो शरीर का निर्माण किया। उन्होंने कहा- यह हमारे लिए पर्याप्त (उपयुक्त) नहीं है, तब ईश्वर ने अश्व शरीर बनाया। उसे देखकर वे बोले- यह भी हमारे लिए पर्याप्त नहीं है॥ २॥

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीद्यथाऽऽयतनं प्रविशतेति ॥ ३ ॥

तब परमेश्वर ने उनके लिए मनुष्य शरीर की रचना करके उन्हें (देवताओं को) दिखाया, तब वे सभी देवगण बोले बस यह बहुत सुन्दर रचना है। सचमुच ही मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। परमेश्वर ने उन देवताओं से कहा-(इस मानव शरीर में) आप लोग अपने-अपने आयतन अर्थात् आश्रय स्थलों में प्रवेश करें॥ ३॥

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्वक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद्विषः श्रोत्रं भूत्वा कर्णों प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्वन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्रं प्राविशन्॥ ४॥

(परमात्मा की आज्ञा पाकर) अग्निदेव वाणी का रूप धारण कर मुख में प्रविष्ट हुए, वायुदेव प्राण बनकर नासिका के छिद्रों में प्रविष्ट हुए, सूर्यदेव चक्षु बनकर नेत्रों के गोलकों में प्रविष्ट हुए, दिशाएँ श्रोत्रेन्द्रिय बनकर कर्ण छिद्रों में प्रविष्ट हुई, वनस्पतियाँ रोम बनकर त्वचा में प्रविष्ट हुई, चन्द्रदेव मन बनकर हृदयक्षेत्र में प्रविष्ट हुए, मृत्युदेव अपान बनकर नाभि प्रदेश में प्रविष्ट हुए और आपः देवता वीर्य बनकर उपस्थ क्षेत्र में प्रविष्ट हुए ॥ ४ ॥

[ यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि देवता विराट् पुरुष के जिन अंगों से जिस माध्यम से प्रकट हुए थे, उसी क्रम से उन्होंने मनुष्य के उर्हीं अंगों में स्थान बनाया । ]

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति । ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति । तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः ॥ ५ ॥

(तब) क्षुधा और पिपासा ने परमेश्वर से कहा- (आपने सब देवताओं को तो स्थान दे दिया) हमारे लिए भी आश्रय स्थल की व्यवस्था करें । परमेश्वर ने कहा- मैं तुम दोनों को इन देवताओं में ही भाग प्रदान करता हूँ । जिस किसी देवता को कोई आहार (हवि) प्रदान किया जायेगा । उसमें तुम दोनों का भी हिस्सा होगा, (तभी से इन्द्रियों द्वारा आहार ग्रहण करने पर भूख और प्यास को भी परिवृत्ति मिलती है ।) ॥ ५ ॥

[ ऋषि स्पष्ट करते हैं कि भूख-प्यास का कोई स्वतंत्र स्थान नहीं है, वे विभिन्न अंग-अवयवों में संव्यास देवशक्तियों के साथ संयुक्त हैं । शरीर विज्ञान के वर्तमान शोध-निष्कर्ष भी यही कहते हैं । भूख-प्यास शरीर के प्रत्येक कोश में होती है । जब तक पेट में अन्न-जल का भण्डार होता है, तब तक भूख-प्यास की अनुभूति नहीं होती । रोग की स्थिति में 'ड्रिप' द्वारा जल एवं पोषण पहुँचाने से भूख-प्यास शान्त हो जाती है । इससे स्पष्ट है कि भूख- प्यास प्रत्येक जीवित कोश के साथ संयुक्त है । ]

## ॥ तृतीयः खण्डः ॥

स ईक्षातेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ॥ १ ॥

इसके अनन्तर परमात्मा ने विचार किया कि समस्त लोकों और लोकपालों की सृष्टि तो सम्पन्न हो चुकी, अब इनके लिए अन्न की भी रचना करनी चाहिए ॥ १ ॥

सोऽपोऽभ्यतपत् ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत । या वै सा मूर्तिरजायतान्न वै तत् ॥

फिर परमेश्वर ने अप् प्रवाह को अभितप्त किया । उस तपाये हुए (अमूर्त अप्) से जो मूर्त स्वरूप बना, वह मूर्त रूप ही वस्तुतः अन्न है ॥ २ ॥

[ ध्यान देने योग्य तथ्य है कि इस नयी सृष्टि में भी 'अप्' प्रवाह को ही तस अथवा परिपक्व किया गया । ]

तदेतत्सृष्टं पराडन्त्यजिघांसत् तद्वाचा जिघृक्षतन्नाशक्तोद्वाचा ग्रहीतुम् । स यद्वैनद्वाचाऽग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रपृथ्यत् ॥ ३ ॥

उस सृष्टि (रचे हुए) अन्न ने उन (लोकपालों) की ओर से परे (पराइमुख होकर) भागने की चेष्टा की, तब उस पुरुष ने उसे (अन्न को) वाणी के द्वारा ग्रहण करना चाहा; किन्तु वह उसे वाणी द्वारा ग्रहण करने में असमर्थ रहा । यदि वह पूर्ण पुरुष अन्न को वाणी से ग्रहण कर लेता, तो अब (इस समय या इस युग में) भी मनुष्य वाणी से अन्न को बोलकर ही तृप्ति प्राप्त कर लिया करते ॥ ३ ॥

तत्प्राणेनाजिघृक्षत् तत्राशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुम् ।

स यद्वैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ४ ॥

इसके पश्चात् उसने अन्न को प्राण द्वारा पकड़ने की चेष्टा की, पर वह इसमें भी सफल न हो सका । यदि वह इसे प्राण से ग्रहण कर लेता, तो इस युग में भी पुरुष प्राण-प्रक्रिया से ही सूँघकर अन्न ग्रहण करके परितृप्त हो जाया करते ॥ ४ ॥

तच्चक्षुषाजिघृक्षत् तत्राशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुम् ।

स यद्वैनच्चक्षुषाग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ५ ॥

फिर उस पुरुष ने नेत्रों द्वारा अन्न ग्रहण करने अर्थात् देखकर ही अन्न की शक्ति ग्रहण करने की चेष्टा की; किन्तु ऐसा भी सम्भव न हो सका । यदि वह (पूर्ण पुरुष) उसे नेत्रों से ग्रहण कर सकता, तो अब भी मनुष्य अन्न को देखने मात्र से ही तृप्त हो जाया करते ॥ ५ ॥

तच्छोत्रेणाजिघृक्षत् तत्राशक्नोच्छोत्रेण ग्रहीतुम् ।

स यद्वैनच्छोत्रेणाग्रहैष्यच्छुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ६ ॥

तदुपरान्त उस पुरुष ने उस अन्न को श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने का प्रयत्न किया; किन्तु वह उसमें भी सफल न हो सका । यदि वह (पूर्ण पुरुष) उसे कानों द्वारा ग्रहण कर सका होता, तो अब भी लोग इसे कानों द्वारा ग्रहण कर सकते (अर्थात् अन्न के विषय में सुनकर ही तृप्त हो जाते) ॥ ६ ॥

तत्त्वचाजिघृक्षत् तत्राशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुम् ।

स यद्वैनत्त्वचाग्रहैष्यत्पृष्ठ्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ७ ॥

तब उस पुरुष ने इस (अन्न) को त्वचा द्वारा ग्रहण करने की चेष्टा की; किन्तु उसे इसमें भी सफलता न मिली । यदि वह उस समय त्वचा द्वारा अन्न को पकड़ने अर्थात् ग्रहण करने में सफल हो गया होता, तो अब भी लोग इसे छू लेने मात्र से ही परितृप्त हो जाते ॥ ७ ॥

तन्मनसाजिघृक्षत् तत्राशक्नोन्मनसा ग्रहीतुम् ।

स यद्वैनन्मनसाग्रहैष्यद्व्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ८ ॥

तदनन्तर उस पुरुष ने उसको मन द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा की; लेकिन उसे इसमें भी सफलता नहीं मिली । यदि वह इसको मन द्वारा ग्रहण कर पाता, तो अब भी मनुष्य अन्न के चिन्तन मात्र से तृप्ति अनुभव करते ॥ ८ ॥

तच्छ्रेनाजिघृक्षतत्राशक्नोच्छ्रेन ग्रहीतुम् ।

स यद्वैनच्छ्रेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ९ ॥

इसके बाद उस पुरुष ने अन्न को शिशन द्वारा ग्रहण करने का प्रयत्न किया; किन्तु इसके द्वारा भी वह उसे ग्रहण करने में समर्थ न हो सका । यदि वह उस समय उसे शिशन द्वारा ग्रहण कर पाया होता, तो आज भी मनुष्य अन्न का विसर्जन करके ही तृप्त हो जाया करते ॥ ९ ॥

तदपानेनाजिघृक्षत् तदावयत् । सैषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुरन्नायुर्वा एष यद्वायुः ॥ १० ॥

उसके बाद उस (पुरुष) ने अपान वायु के द्वारा (मुँह से होकर) इसे (अन्न को) ग्रहण करने की चेष्टा की, अपान वायु के द्वारा उसने अन्न को ग्रहण कर लिया । अपान वायु ही अन्न को ग्रहण करने में समर्थ है । जो अन्न के द्वारा जीवन की रक्षा करने में समर्थ है, वह यही वायु है ॥ १० ॥

[ शंकराचार्य जी ने अपान का अर्थ मुख छिद्र किया है। वाचस्पत्यम् में अपान को प्राण का धारक कहा गया है। आयुर्वेद में पाचन, मल उत्सर्जन आदि कर्म अपान द्वारा ही सम्पन्न होना माना गया है। अतः वही अन्न का धारक है। अन्न के माध्यम से आयुष्य बढ़ाने वाला यही वायु अन्नायु कहा जाता है। ]

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति । स ईक्षत यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्रेन विसृष्टमथ कोऽहमिति ॥ ११ ॥

उस परमात्मा ने विचार किया कि यदि इस पुरुष ने वाणी से बोलने का प्रयोजन पूरा कर लिया, यदि प्राण (वायु) से सूँघ लिया, यदि नेत्रों से देख लिया, यदि कानों से सुन लिया, यदि त्वचा से स्पर्श कर लिया, यदि मन से सोच लिया, यदि अपान से आहार ग्रहण कर लिया और उपस्थि से विसर्जन कृत्य पूर्ण कर लिया, तो मैं (उसके लिए) कौन रहा? (मेरे बिना ये कैसे रह पायेगा?) मैं किधर से प्रविष्ट होऊँ? ॥ ११ ॥

[ समस्त व्यवस्था बन जाने पर भी आत्मा के रूप में परमात्मा के अंश की स्थापना के बगैर व्यक्ति का अस्तित्व नहीं बनता। 'कोऽहम्' (फिर मैं कौन हूँ?) का उत्तर 'सोऽहम् इति' (मैं वही आत्म तत्त्व हूँ) यह तथ्य इस प्रकरण से सिद्ध होता है। ]

स एतमेव सीमानं विदार्थ्यैतया द्वारा प्रापद्यत । सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम् ।  
तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥ १२ ॥

वह परमात्मा मानव शरीर की सीमा मूर्धा (ब्रह्मरन्ध) को विदीर्ण करके (चीरकर) उसमें प्रविष्ट हो गया। विदीर्ण करके जाने के कारण इस द्वार को 'विदृति' नाम से जाना जाता है। यह विदृति नामक द्वार आनन्दप्रद अर्थात् आनन्दस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति कराने वाला है। उस परमेश्वर के तीन आश्रयस्थल और तीन स्वप्न हैं। उसका यही आवास स्थल है। यही आवासस्थल है, यही आवासस्थल है ॥ १२ ॥

[ 'यही वह स्थल है', यह बात तीन बार कही गयी है। बात पर बल देने के लिए 'त्रिवाचा' कहने की परम्परा है, अर्थात् यह देह निश्चित रूप से उस परमात्मा का आवास है। अन्य भाव यह है कि शरीर में तीन स्वचालित तंत्र, तीन ग्रन्थियों में आत्मा का सीधा नियंत्रण कहा जा सकता है, वे हैं-मस्तिष्क में सहस्रार (रैटिकुलर एकिटवेटिंग सिस्टम), हृदय (पेस मेकर) तथा नाभि ग्रन्थि (पाचन-प्रजनन चक्र) अथवा शरीर, ब्रह्माण्ड और परम व्योम इन तीन स्थानों को उसके स्थान तथा स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण स्वरूपों को अथवा सृजन, पालन, परिवर्तन को उसके तीन स्वप्न कहा जा सकता है। ]

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति ।

स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यदिदमदर्शमिती३ ॥ १३ ॥

मानव शरीर में प्रकट उस पुरुष ने भूतों (सृष्टि) को चारों ओर से देखा और यह कहा कि मेरे अतिरिक्त यहाँ दूसरा कौन है? मैंने इसे भली-भाँति देखकर यह बोध प्राप्त कर लिया है कि यह परम पुरुष परब्रह्म ही है ॥ १३ ॥

तस्मादिदन्त्रो नामेदन्त्रो ह वै नाम तमिदन्त्रं सन्तमिन्द्र ।

इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥ १४ ॥

मानुष-देह में उत्पन्न हुए उस पुरुष ने परब्रह्म परमेश्वर का पूर्व वर्णित रीति से साक्षात्कार कर लिया; इसलिए उसका मैंने दर्शन कर लिया, इस व्युत्पत्ति के आधार पर ही उस का नाम इदन्त्र है। परन्तु लोग उसे 'इन्द्र' कहकर ही सम्बोधित करते हैं, क्योंकि देवगण परोक्ष प्रिय होते हैं, देवगण परोक्ष प्रिय होते हैं ॥ १४ ॥

## ॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

### ॥ प्रथमः खण्डः ॥

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति । यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गे भ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनजनयति तदस्य प्रथमं जन्म ॥ १ ॥

सर्वप्रथम यह जीव पुरुष के शरीर में गर्भरूप से विराजमान रहता है । पुरुष के शरीर में स्थित जो वीर्य है, वह पुरुष के समस्त अङ्गों से समुत्पन्न तेज है । पहले पुरुष आत्मस्थ तेज को अपने ही अन्दर पोषित करता है, तदुपरान्त जब वह इस वीर्यरूप तेज का स्त्री में सिञ्चन करके गर्भरूप में स्थित रहता है, यह इसका (जीव का) प्रथम जन्म है ॥ १ ॥

[ वर्तमान प्रजनन विज्ञान (जेनेटिक साइंस) भी वीर्य में गुण-सूत्रों (क्रोमोजोम्स) तथा जीन्स (जीवाणुओं) में व्यक्तित्व की सभी विशेषताओं का समावेश मानता है । पुरुष के गर्भ में पुरुष का परिपाक यह उपनिषद् की अपनी दृष्टि है । पदार्थ विज्ञान की अपनी सीमाएँ हैं, ऋषि उसमें चेतना का संकल्पयुक्त तंत्र देखते हैं । ]

तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति यथा स्वमङ्गं तथा तस्मादेनां न हिनस्ति ।  
सास्यैतमात्मानमन्त्र गतं भावयति ॥ २ ॥

जिस प्रकार स्त्री के अपने ही शरीर के अङ्ग होते हैं, उसी प्रकार पुरुष द्वारा सिञ्चित वह वीर्य भी स्त्री से तादात्म्य स्थापित कर लेता है । अस्तु, वह स्त्री को किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाता । वह स्त्री अपने उदर में स्थापित पति के (वीर्यरूप) आत्मा का पोषण करती है ॥ २ ॥

[ सृष्टि के आदि में विराद् पुरुष और प्रकृति संयोग जैसा ही यह संयोग होता है । ]

सा भावयित्री भावयितव्या भवति तं स्त्री गर्भं बिभर्ति सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रे ऽधिभावयति । स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रे ऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्वावयत्येषां लोकानां सन्तत्या एवं सन्तता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म ॥ ३ ॥

वह पालनकर्ती स्त्री पालनीया (अपने पति द्वारा पालन करने योग्य) होती है । गर्भवती स्त्री प्रसव से पूर्व गर्भस्थ जीव का पालन करती है और वह पुरुष (पिता) प्रसवोपरान्त सर्वप्रथम (जातकर्म आदि संस्कार से) उस शिशु को सुसंस्कृत करता है । वह जन्मोपरान्त शिशु को इस प्रकार संस्कारित करके, उसकी उन्नति करके वास्तव में अपनी ही उन्नति करता है; क्योंकि इसी प्रकार लोक (चौदहों भुवन) प्रवृद्ध होते हैं । यही इस (जीव) का द्वितीय जन्म है ॥ ३ ॥

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते । अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म ॥ ४ ॥

इस आत्मा (पिता) का यह पुत्रस्वरूप आत्मा पुण्यों के लिए (पिता के) प्रतिनिधि रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है । तदुपरान्त यह जीव (पितारूप) वयोवृद्ध होकर अपने लौकिक कर्तव्यों को पूरा करके इस लोक से प्रस्थान कर जाता है । इसके पश्चात् उसका पुनर्जन्म होता है । यह इस जीव का तृतीय जन्म है ॥ ४ ॥

तदुक्तमृषिणा- गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा । शतं मा पुर आयसीरक्षन्नथः इयेनो जवसा निरदीयमिति गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच ॥ ५ ॥

यही बात ऋषि (वामदेव) ने इन शब्दों में कही है— मैंने गर्भ की स्थिति में ही (अन्तःकरण, इन्द्रियादि) देवताओं के जन्मों का रहस्य भली-भाँति जान लिया है। मैं सैकड़ों लौहयुक्त (लोहे की तरह कठोर) पिंजड़ों में आबद्ध था। अब मुझे तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया है, अतः मैं बाज पक्षी के समान (उन पिंजड़ों को भेदकर) बाहर आ गया हूँ। इस प्रकार गर्भ में शयन करते हुए ऋषि वामदेव ने यह तथ्य प्रकट किया था ॥ ५ ॥

[ पदार्थ विज्ञानी पदार्थों की प्रयोगशाला में प्रवेश करके प्रयोगों द्वारा अनुसंधान करते हैं। चेतना विज्ञान के विज्ञानी ऋषिगण चेतना की प्रयोगशालाओं में संकल्पपूर्वक प्रवेश करके अनुसंधान करते थे। वे परम व्योम तक अपनी चेतना ले जाकर वेद के रहस्य प्रकट कर सकते थे और प्रकृति के सूक्ष्म घटकों में प्रवेश करके उनकी विशेषताओं का साक्षात्कार कर लेते थे। ऋषि वामदेव ने अपनी आत्म चेतना को इसी अनुसंधान के लिए संकल्पपूर्वक गर्भरूप में स्थापित किया तथा पूर्ण जागरूक रहकर चेतना के रहस्यों का अध्ययन किया, यही बात यहाँ स्पष्ट की गयी है । ]

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्वं उत्कम्यामुष्मिन् स्वर्गे

लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः समभवत् समभवत् ॥ ६ ॥

वे ऋषि वामदेव यह ज्ञान (तत्त्वज्ञान) प्राप्त करके इस शरीर के विनष्ट होने के पश्चात् (इस लोक से) उत्कमण कर (ऊर्ध्वगमन कर) स्वर्ग में समस्त सुखों का उपभोग करते हुए अमृतत्व को प्राप्त हो गये (अमर हो गये) ॥ ६ ॥

## ॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

### ॥ प्रथमः खण्डः ॥

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतरः स आत्मा येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥ १ ॥

जिस आत्मा की हम उपासना-अर्चना करते हैं, वह कौन है? जिसके द्वारा प्राणी देखता है, जिसके द्वारा श्रवण करता है, जिसके द्वारा गन्धों को सूँघता है, जिसके माध्यम से वाक् शक्ति का विश्रेषण करता है और जिसके द्वारा स्वादु-अस्वादु का ज्ञान प्राप्त करता है, वह आत्मा कौन सा है? ॥ १ ॥

यदेतत् हृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा  
जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि  
भवन्ति ॥ २ ॥

जो यह हृदय है, वही मन भी है। संज्ञान (सम्यक् ज्ञान), आज्ञान (आदेश देने की शक्ति), विज्ञान (विविध रूपों से जानने की शक्ति), प्रज्ञान (तुरन्त जान लेने की शक्ति), मेधा (धारणाशक्ति), दृष्टि, धृति (धैर्य), बुद्धि, मनीषा (मनन करने की शक्ति), जूति (वेग), स्मृति, संकल्पशक्ति, मनोरथ शक्ति, भोगशक्ति, प्राणशक्ति ये सभी शक्तियाँ परमात्म सत्ता की ही बोधक हैं ॥ २ ॥

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाशा आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव। बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्दिज्जानि चाश्चा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जड़मं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥ ३ ॥

यह (प्रज्ञान स्वरूप आत्मा ही) ब्रह्म, इन्द्र और प्रजा का अधिपति है। यही समस्त देवगण तथा पृथिवी, वायु, अग्नि, आकाश और जल – पञ्च महाभूत हैं। यही इतर प्राणी तथा उनके कारणरूप बीज और अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, जरायुज प्राणी तथा गौ, अश्व, मनुष्य, पक्षी और हाथी सहित यह समस्त जड़-जड़म जगत् प्रज्ञानेत्र और प्रज्ञान में ही समाहित हैं। उस प्रज्ञान में ही समस्त लोक आश्रित हैं, प्रज्ञा ही उनका विलय स्थल है। अस्तु, प्रज्ञान को ही ब्रह्म कहा गया है ॥ ३ ॥

स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्कम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वामृतः समभवत् समभवत् ॥ इत्योम् ॥ ४ ॥

जो परमेश्वर को इस प्रकार जान लेता है, वह इहलोक से ऊर्ध्वगमन कर स्वर्ग में जाकर समस्त दिव्य भोगों को प्राप्त करता है और अन्ततः वह ज्ञानी अमरपद को प्राप्त करता है ॥ ४ ॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाऽमे मनसि प्रतिष्ठिता.....इति शान्तिः ॥

॥ इति ऐतरेयोपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ कठोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा के अन्तर्गत है। इसमें दो अध्याय तथा प्रत्येक में तीन-तीन वल्लियाँ हैं, जिनमें वाजश्रवा के पुत्र नचिकेता और यम के बीच हुए संवाद का सुप्रसिद्ध उपाख्यान है। वाजश्रवा ने यज्ञ की दक्षिणा में निर्थक वस्तुओं का दान करके दान की चिह्न-पूजा करनी चाही। उनके पुत्र नचिकेता ने पिता को यथार्थ बोध कराने के लिए बार-बार पूछा कि आप मुझे किसको प्रदान करेंगे? पिता ने खोजकर उन्हें यम को दान करने की बात कही।

नचिकेता यम से मिलते हैं, उन्हें प्रभावित कर लेते हैं। यम उनसे तीन वरदान माँगने को कहते हैं। वे पहले वरदान में पिता की प्रसन्नता तथा अनुकूलता तथा दूसरे वर में स्वर्ग प्रदायिनी अग्निविद्या माँगते हैं। यम उन्हें दोनों वर प्रदान करते हैं। तीसरे वर में नचिकेता आत्मविद्या जानना चाहते हैं। यम उन्हें प्रलोभन देकर विचलित करना चाहते हैं; किन्तु नचिकेता अविचलित बने रहते हैं। इतना प्रकरण प्रथम अध्याय की प्रथम वल्ली में है। द्वितीय, तृतीय वल्ली में यमदेव आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी विविध पक्ष समझाते हैं। दूसरे अध्याय में परमेश्वर की प्राप्ति में बाधाएँ, उनके निवारण, हृदय प्रदेश में उनकी स्थिति का वर्णन है। परमात्मा की सर्वव्यापकता संसाररूपी अश्वस्थ का विवेचन, योग साधना तथा ईश्वर विश्वास एवं मोक्षादि का वर्णन है। अन्त में ब्रह्मविद्या के प्रभाव से नचिकेता को ब्रह्म प्राप्ति होने का उल्लेख है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- अमृतनादोपनिषद्)

### ॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

#### ॥ प्रथमा वल्ली ॥

ॐ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ। तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥ १ ॥

(यह कथा प्रसिद्ध है कि) यज्ञफल की इच्छा रखने वाले वाजश्रवा ऋषि के पुत्र वाजश्रवस (उद्घालक) ने (विश्वजित् यज्ञ में) अपने सम्पूर्ण धनादि पदार्थों का दान कर दिया। उनका नचिकेता नाम का एक पुत्र था ॥ १ ॥

तःह कुमारः सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाविवेश सोऽ मन्यत ॥ २ ॥

जिस समय (ऋत्विजों द्वारा) दक्षिणा में प्राप्त (जराजीर्ण) गौएँ ले जायी जा रही थीं, उन्हें देखकर अल्प वयस्क नचिकेता के हृदय में श्रद्धा का संचार हुआ। उसने विचार किया ॥ २ ॥

पीतोदका जग्धतुणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।

अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत् ॥ ३ ॥

जो गौएँ जल पी चुकीं, घास खा चुकीं, जिनका दूध दुहा जा चुका और जो इन्द्रियों के शिथिल हो जाने पर प्रजनन-सामर्थ्य से रहित हैं (जो वृद्धावस्था से जीर्ण और निर्थक हो चुकी हैं), उन गौओं का दान करने से मेरे पिता (वाजश्रवस) निश्चित ही सुखों से रहित नरकादि लोकों को प्राप्त करेंगे ॥ ३ ॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति ।

द्वितीयं तृतीयं तःहोवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥ ४ ॥

ऐसा विचार करके नचिकेता ने अपने पिता से कहा-हे तात! आप मुझे किसको दान स्वरूप देंगे? यही प्रश्न उसने दो-तीन बार पूछा। तब पिता ने क्रोधित होकर कहा-मैं तुझे मृत्यु (यम) को देता हूँ॥ ४ ॥

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः । किंस्वद्यमस्य कर्तव्यं यमयाद्य करिष्यति ॥ ५ ॥

(पिता द्वारा ऐसा कहे जाने पर पुत्र नचिकेता ने विचार किया कि) अनेक शिष्यों तथा पुत्रों में मुझे प्रथम अर्थात् उत्तम स्थान प्राप्त है और बहुतों के बीच मैं मध्यम श्रेणी का हूँ। मुझे पिताजी द्वारा यमराज को दिया जा रहा है। यम का ऐसा कौन सा कार्य है, जो मेरे द्वारा सम्पन्न हो सकता है? ॥ ५ ॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे ।

सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥ ६ ॥

क्रोध में अनर्थमूलक वचन कहे जाने से व्यथित हो रहे अपने पिता से नचिकेता ने कहा - हे तात! आपके पिता - पितामहादि पूर्वजों ने जैसा आचरण किया है, उस पर विचार करें तथा वर्तमान काल के दूसरे श्रेष्ठ सदाचारी जैसा आचरण करते हैं, उस पर भी दृष्टिपत करें। मरणर्थमा मनुष्य फसल की भाँति (समय पर) पकता (जर्जर होकर मृत्यु को प्राप्त होता) है और पुनः (काल क्रमानुसार) उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।

तस्यैताऽ शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥ ७ ॥

(पुत्र के वचन से सहमत होकर पिता ने नचिकेता को यम के पास भेज दिया। वे बाहर गये थे, नचिकेता प्रतीक्षारत रहे। लौटने पर यम की पती ने उनसे कहा-) वैश्वानर अग्नि ही ब्राह्मण अतिथि रूप में घरों में प्रवेश करते हैं। सम्प्रान्त जन उनका अर्ध्य-पाद्यादि द्वारा सत्कार करते हैं। अतः (अर्ध्य हेतु) जल प्रदान करें ॥ ७ ॥

आशाप्रतीक्षे सङ्गतः सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूःश्च सर्वान् ।

एतद्वृक्षे पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्रन्वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥

जिनके घर में ब्राह्मण-अतिथि भोजन किये बिना निवास करता है, उस मन्दबुद्धि पुरुष की आशा (अज्ञात इष्टार्थ की प्राप्ति अभिलाषा), प्रतीक्षा (निश्चित इष्टार्थ की प्राप्ति प्रतीक्षा) को, उनके संयोग से उपलब्ध होने वाले फल को, कूपादि निर्माणजन्य फल को तथा समस्त पुत्र और पशु आदि को (आतिथ्य सत्कार से रहित) अतिथि नष्ट कर देता है ॥ ८ ॥

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽ नश्रन्ब्रह्मतिथिर्नमस्यः ।

नमस्तेऽस्तु ब्रह्मस्वस्ति मेऽ स्तु तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व ॥ ९ ॥

(यम का कथन) हे ब्रह्मन्! आप सम्माननीय अतिथि हैं, अतः आपको नमन है। मेरा कल्याण हो। हमारे घर पर (आपने) जो तीन रात तक बिना भोजन किये ही निवास किया है, इसके फलस्वरूप एक-एक रात्रि के लिए आप हमसे तीन वर माँग लें ॥ ९ ॥

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभिमृत्यो ।

त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥

(नचिकेता ने कहा) हे यमराज ! मेरे पिता गौतम पुत्र उद्दालक, मेरे प्रति शान्त संकल्प वाले, प्रसन्न मन वाले तथा क्रोध रहित हो जाएँ। आपके द्वारा वापस घर भेजे जाने पर मुझे (मेरे पिता) पहचानकर मेरे साथ पूर्ववत् प्रेमपूर्ण व्यवहार करें, (आपके द्वारा प्रदत्त) तीन वरदानों में से यह प्रथम वर माँगता हूँ ॥ १० ॥

**यथा पुरस्ताद्विता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः ।**

**सुखरात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥ ११ ॥**

(हे नचिकेता !) आपको मृत्यु के मुख से मुक्त देखकर हमारे द्वारा प्रेरित अरुणपुत्र उद्दालक पूर्ववत् ही पहचान लेंगे। (यह हमारा पुत्र नचिकेता है ऐसा मानते हुए) वे दुःख और क्रोध से रहित होकर शेष रात्रियों में सुखपूर्वक शयन करेंगे ॥ ११ ॥

**स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।**

**उभे तीत्वाशिनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥**

नचिकेता बोले- हे मृत्युदेव ! स्वर्ग लोक भयकारक नहीं है। वहाँ मृत्युरूप आपका भी भय नहीं रहता, न वहाँ वृद्धावस्था (संसार की भाँति) डराती है। स्वर्गलोक में मनुष्य भूख-प्यास को पारकर, शोक से निवृत्त होकर आनन्द प्राप्त करते हैं ॥ १२ ॥

**स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वंश्रद्धानाय महाम् ।**

**स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतदिद्वतीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥**

हे यमराज ! आप स्वर्ग के साधनभूत अग्निविद्या को भली-भाँति जानते हैं। अतः मुझ श्रद्धालु को वह अग्निविद्या भली प्रकार समझाएँ, जिसके द्वारा स्वर्गलोक को प्राप्त हुए पुरुष अमरत्व को प्राप्त करते हैं। इस अग्नि विद्या को (मैं) द्वितीय वर के रूप में माँगता हूँ ॥ १३ ॥

[ सूत्र है 'श्रद्धया सत्यमाप्यते'-श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है। जैसे आँख से दृश्य तथा कान से शब्द ग्रहण किये जाते हैं, वैसे ही सत्य को श्रद्धा द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है। इसलिए नचिकेता ने अपनी श्रद्धा का हवाला देकर विद्यादान माँगा । ]

**प्रते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् ।**

**अनन्तलोकामिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम् ॥ १४ ॥**

नचिकेता के इस प्रकार कहने पर मृत्युदेव ने कहा - हे नचिकेता ! स्वर्ग प्रदायिनी अग्निविद्या को विधिपूर्वक जानने वाला मैं उसे विस्तारपूर्वक कहता हूँ, तुम उस विद्या को मुझसे भली प्रकार(एकाग्र मन से )समझ लो। अनन्त लोक (स्वर्ग लोक) को प्राप्त कराने वाली, संसार की आधार स्वरूपा इस (अग्नि)विद्या को गुहा में स्थित समझो ॥ १४ ॥

[ गुहा में रखी वस्तु 'गुहा' अर्थात् बहुत कठिनाई से प्राप्त होने वाली होती है। अन्तःकरण को भी गुहा कहा गया है। स्वर्ग प्रदायिनी अग्नि विद्या के अन्तःकरण में स्थित होने का संकेत यमाचार्य ने किया है। जिस प्रकार काष्ठ में लौकिक अग्नि समाहित रहती है, उसी प्रकार अन्तःकरण में स्वर्ग प्रदायिनी ऊर्जा सन्निहित रहती है । ]

**लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।**

**स चापि तत्प्रत्यवद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥ १५ ॥**

तदनन्तर यमाचार्य ने लोकों की आदिकारण भूत अग्नि विद्या को नचिकेता के समक्ष कहा। जिस प्रकार की, जितनी इष्टकाओं (ईटों या इकाइयों) का जिस प्रकार चयन किया जाना है, उसकी सम्पूर्ण

विधि को समझाया। नचिकेता ने भी जैसा उनसे कहा गया था, ठीक उसी प्रकार यमदेव के समक्ष पुनः सुना दिया। तब (नचिकेता की ग्राह्य क्षमता से) संतुष्ट होकर यमदेव ने फिर कहा ॥ १५ ॥

[ वेद में 'इष्टका' शब्द स्थूल ईटों के अतिरिक्त 'इष्ट' वस्तु के निर्माण में प्रयुक्त सूक्ष्म इकाइयों के लिए भी प्रयुक्त होता है। यहाँ स्थूल ईटों के स्थान पर अग्नि की सूक्ष्म इकाइयों का भाव ही ग्राह्य है। लौकिक अग्नि में भी विभिन्न इकाइयाँ शामिल होती हैं। इनमें ताप (कैलोरी), प्रकाश (ल्यूमेन) तथा रंग (कलर स्पेक्ट्रम) आदि सबको पता है। स्थूल अग्नि के अनेक अन्य गुण भी उसकी इकाइयाँ कहे जा सकते हैं। यहाँ स्वर्ग प्रदायिनी दिव्य अग्नि की इकाइयों तथा उनके चयन की बात कही गयी है। गुहा अन्तःकरण में स्थित ऊर्जा की इकाइयाँ बीज रूप में स्थित दिव्य प्रवृत्तियाँ कही जा सकती हैं। उन्हीं के जागरण एवं संयोजन से व्यक्ति, विद्वान्, कलाकार, वैज्ञानिक आदि स्तरों तक पहुँच जाता है। यमदेव ने नचिकेता को स्वर्ग तक पहुँचाने वाली दिव्य अग्नि-ऊर्जा के लिए आवश्यक सूक्ष्म इकाइयों तथा उनके संयोजन का रहस्य बतलाया है। ]

**तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।**

**तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृकां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥ १६ ॥**

महात्मा यमाचार्य ने प्रसन्न होकर नचिकेता से कहा- आज (माँगे गये तीन वरों के अतिरिक्त) एक वर और भी देता हूँ। मेरे द्वारा कही गयी यह अग्नि विद्या अब तुम्हरे नाम से ही प्रख्यात होगी। तुम इस अनेक रूपों वाली शब्दरूपिणी (ज्ञान तत्त्वमयी) माला को स्वीकार करो ॥ १६ ॥

[ नचिकेता का अर्थ होता है 'न चिकेतते विचेष्टते' अर्थात् जो प्रपञ्च से अलिस है। अलिस व्यक्ति ही दिव्य अनुशासन को धारण कर सकता है। विषयों में लिस व्यक्ति अपनी प्रतिभा या शक्तियों को सांसारिक कामनाओं के लिए ही लगाता रहता है, दिव्य अनुशासन पालन में लगाने के लिए उन्हें सुरक्षित नहीं रख पाता। नचिकेता ने पिता की लौकिक आकांक्षाओं या चतुराइयों से अलिस रहकर स्वयं को उच्च आदर्शों के प्रति समर्पित किया, इसी आधार पर उसे 'यम' के निकट पहुँचने तथा उनके अनुदान पाने का लाभ मिल सका। यम दिव्य अनुशासन के देवता हैं। ऋग्वेद १०.१३५ में उन्होंने प्रश्न किया है कि नचिकेता किस रथ (कैरियर) के माध्यम से यहाँ पहुँचा? प्रपञ्च से अलिस रहकर दिव्य अनुशासन के लिए समर्पण की वृत्ति ही वह आधार है, जिससे नचिकेता को दिव्य अग्नि विद्या प्राप्त हुई। इसलिए उस विद्या को 'नाचिकेताग्नि' (लिस न होने वाले की विद्या) नाम दिया जाना ही उचित है । ]

**त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सर्थिं त्रिकर्मकृतरति जन्मभृत्यू ।**

**ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाऽ शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १७ ॥**

त्रिविध 'नाचिकेत' विद्या का ज्ञाता तीन संघियों को प्राप्त होकर, तीन कर्म सम्पन्न करके जन्म-मृत्यु से पार हो जाता है। वह ब्रह्म यज्ञरूप स्तुत्य देव का साक्षात्कार करके निश्चित रूप से अत्यंत (परम) शान्ति को प्राप्त करता है ॥ १७ ॥

[ नाचिकेत विद्या को त्रिविध कहा गया है, आचार्यों ने इसे प्राप्ति, अध्ययन तथा अनुष्ठान तीन विधियों से युक्त कहा है। साधक को इन तीनों के साथ आत्म चेतना की संधि करनी पड़ती है अथवा स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों को इस विद्या से अनुप्राणित करना पड़ता है। इस प्रक्रिया को त्रिसंधि प्राप्ति कहा जा सकता है। कुछ आचार्यों ने माता-पिता एवं गुरु से युक्त होने को त्रिसंधि कहा है। तीन कर्म सृजन, पालन, समाहरण अथवा यज्ञीय संदर्भ में देव पूजन, संगतिकरण एवं दान कहे जाते हैं। इन सबको दिव्याग्नि विद्या के अनुरूप ढालते हुए साधक जन्म-मरण चक्र से ऊपर उठ जाता है । ]

**त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वाऽश्चिनुते नाचिकेतम् ।**

**स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १८ ॥**

जो त्रिणाचिकेत विद्या के ज्ञाता इस अग्नि के इन तीनों स्वरूपों को जानकर नाचिकेत अग्नि का चयन करते हैं, वे शरीर त्याग से पूर्व ही मृत्यु के पाशों को काटकर स्वर्ग लोक का आनन्द प्राप्त करते हैं ॥१८॥

**एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण ।**

**एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥ १९ ॥**

हे नचिकेता ! यह स्वर्ग प्रदान करने वाली अग्नि विद्या है, तुमने द्वितीय वर के द्वारा जिसका वरण किया है । मनुष्य (आज से) इस अग्नि को तुम्हारे ही नाम से जानेंगे और प्रयोग करेंगे । हे नचिकेता ! (अब तुम स्वअभिलिष्ट) तीसरे वर को माँग लो ॥ १९ ॥

**येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।**

**एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ २० ॥**

(नचिकेता ने कहा-) मनुष्य के मृत हो जाने पर आत्मा का अस्तित्व रहता है, ऐसा ज्ञानियों का कथन है और अन्य कुछ की मान्यता यह है कि मृत्यु के पश्चात् अस्तित्व नहीं रहता । आपके उपदेश से मैं इस संदेह से मुक्त होकर आत्म-रहस्य को भली प्रकार जान सकूँ । वरों में यही मेरा तीसरा वर है ॥ २० ॥

**देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः ।**

**अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ २१ ॥**

(यम ने कहा-) हे नचिकेता ! पूर्व काल में देवताओं ने भी इस आत्मा के विषय में संशय किया था । निश्चित ही यह आत्मतत्त्व नामक धर्म (विषय) सरलतापूर्वक जानने योग्य नहीं है । हे नचिकेता ! तुम मुझसे कोई अन्य वर माँग लो, इस वर से हमें मुक्त कर दो ॥ २१ ॥

**देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ ।**

**वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥ २२ ॥**

(नचिकेता ने कहा-) हे मृत्युदेव ! इस आत्मतत्त्व के विषय में देवताओं को भी संशय हुआ था । आपका भी यही कथन है कि यह विषय सहजता से जानने योग्य नहीं है । विद्वज्ञों के लिए भी अगम्य होने से इसे जाना नहीं जा सकता, अतः इस आत्मज्ञान का उपदेष्टा भी आपके समान दूसरा (मुझे) नहीं मिल सकता तथा न इसके समकक्ष दूसरा कोई वर ही है (जो मैं आप से माँग लूँ) ॥ २२ ॥

**शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्यशून्हस्तिहरण्यमश्वान् ।**

**भूमेर्हदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥ २३ ॥**

(यमाचार्य उसे प्रलोभित करते हुए बोले-) हे नचिकेता ! तुम सौ वर्ष पर्यन्त जीवन धारण करने वाले पुत्र और पौत्रों को, बहुत से (गौ आदि) पशुओं को तथा हाथी, स्वर्ण और अश्वों को (हमसे) माँग लो । पृथ्वी के बड़े विस्तार वाले साम्राज्य की माँग कर लो । स्वयं भी जितने वर्षों तक जीवनयापन की आकांक्षा हो, जीवित बने रहो ॥ २३ ॥

**एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।**

**महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥ २४ ॥**

इस वर की तरह यदि कोई अन्य वर तुम्हारी दृष्टि में हो, तो उसे माँग लो । धन-सम्पदा तथा अनन्त काल के निमित्त उपयोगी सुख-साधनों (चिरस्थायी आजीविका) को माँग लो । हे नचिकेता ! तुम इस

विस्तृत भूमण्डल पर वृद्धि प्राप्त करो, हम तुमको कामनाओं (भोगों) का इच्छानुकूल उपभोग करने वाला बना देते हैं ॥ २४ ॥

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामाः श्छन्दतः प्रार्थयस्व ।

इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदूशा लम्भनीया मनुष्यैः ।

आभिर्मत्प्रत्ताभिः प्रिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥ २५ ॥

हे नचिकेता ! मर्त्यलोक में जो-जो भोग्य पदार्थ दुर्लभ हैं, उन सभी को तुम स्वेच्छा पूर्वक माँग लो । रथ और (कर्ण प्रिय) वाद्य विशेषों से युक्त इन स्वर्ग की अप्सराओं को प्राप्त कर लो, मनुष्यों द्वारा इस प्रकार की स्त्रियाँ प्राप्त करना सम्भव नहीं है । हमारे द्वारा प्रदत्त इन रमणियों से आप अपनी सेवा-शुश्रूषा कराएँ; किन्तु हे नचिकेता ! मृत्यु के पश्चात् आत्मा का क्या होता है ? यह हमसे न पूछें ॥ २५ ॥

श्वेभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।

अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥

(नचिकेता ने कहा) हे यमराज ! जिन साधनों का आपने वर्णन किया है, वे 'कल रहेंगे भी या नहीं', इसमें पूरा संदेह है । साथ ही ये मनुष्य की इन्द्रिय-सामर्थ्य को भी क्षीण कर डालते हैं । जिसे आप दीर्घ जीवन के रूप में हमें देना चाहते हैं, वह सम्पूर्ण जीवन भी (भोगों के लिए) कम ही है । (अतः) रथादि वाहन एवं (अप्सराओं के) नाच-गान आपके ही पास रहें अर्थात् मुझे इनकी कोई कामना नहीं ॥ २६ ॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्षम चेत्त्वा ।

जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

मनुष्य को धन से संतुष्ट नहीं किया जा सकता । जहाँ हमें आपके दुर्लभ दर्शन-लाभ की प्राप्ति हो गई, वहाँ धन तो हम (अपने पुरुषार्थ से) उपलब्ध कर ही लेंगे । जब तक आप यमपुरी का शासन करते रहेंगे, तब तक हम जीवित ही रहेंगे, पर हमारा प्रार्थनीय वर तो वह आत्मज्ञान से सम्बन्धित ही है ॥ २७ ॥

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यःक्रथःस्थःप्रजानन् ।

अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥

हे यमराज ! वृद्ध होकर मृत्यु को प्राप्त होने वाला ऐसा कौन विवेकशील मनुष्य होगा, जो आप जैसे जरा-मरण रहित देवताओं के दुर्लभ सात्रिध्य को प्राप्त करके भी अप्सराओं के सौन्दर्य, प्रेम तथा आमोद-प्रमोदजन्य क्षणभंगुर सुखों की अभिलाषा करेगा ? ॥ २८ ॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ।

योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २९ ॥

हे मृत्युदेव ! जिस आत्मतत्त्व के विषय में देवता भी सन्देह करते हैं कि आत्मा का अस्तित्व है या नहीं है, उसके विषय में आपका जो भी सुनिश्चित मन्तव्य हो, उसे हमें बताएँ । यह जो अत्यन्त गूढ़ तथा मेरे हृदय पटल पर स्थित वर है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी वर की नचिकेता को कामना नहीं ॥ २९ ॥

[ नचिकेता - अलिस व्यक्तित्व सम्पन्न व्यक्ति ही इस प्रकार के प्रलोभनों को नकार सकता है । इसी आत्म-निष्ठा के आधार पर वह आत्मतत्त्व की प्राप्ति का अधिकारी बनता है । ]

## ॥ द्वितीया वल्ली ॥

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थं पुरुषः सिनीतः ।

तयोः श्रेय आदानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ १ ॥

यमराज ने नचिकेता से कहा- श्रेय (कल्याण) का मार्ग और प्रेय (सांसारिक भोग्य पदार्थों) का मार्ग दोनों पृथक्-पृथक् हैं । भिन्न-भिन्न परिणाम देने वाले दोनों श्रेय और प्रेय मार्ग मनुष्य को अपनी-अपनी ओर आकर्षित करते हैं । उन दोनों में से श्रेय (कल्याण) मार्ग को स्वीकार करने वाले साधकों को श्रेष्ठ फल प्राप्त होते हैं और जो सांसारिक भोगों से युक्त प्रेय मार्ग के पथिक हैं, वे मानव जीवन के महान् उद्देश्य से भटककर पतन-पराभव को प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

**श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः ।**

श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥ २ ॥

श्रेय और प्रेय दोनों ही मार्ग मनुष्य के समक्ष उपस्थित होते हैं । बुद्धिमान् मनुष्य उन दोनों को भली प्रकार विचार कर उन्हें पृथक्-पृथक् रूप से जान लेते हैं । विवेकशील साधक निश्चित रूप से प्रिय लगने वाले भोग-साधनों की अपेक्षा कल्याण पथ को श्रेयस्कर मानकर उसे ही वरण करते हैं । मन्दमति अविवेकीजन योग (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त वस्तु के संरक्षण) की अभिलाषा से बाह्यकर्षणों के वशीभूत होकर प्रेय-पथ को ही स्वीकार करते हैं ॥ २ ॥

**स त्वं प्रियान्प्रियरूपाः श्रु कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्ताक्षीः ।**

नैतां सृङ्गां वित्तमयीमवासो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥ ३ ॥

हे नचिकेता ! सांसारिक भोग-विलास के नश्वर साधनों को तुमने विचारपूर्वक त्याग दिया है । भौतिक जगत् के जिन मायावी प्रलोभनों में अज्ञानी पुरुष जकड़े रहते हैं, तुम उन बन्धनों में नहीं पड़े ॥ ३ ॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।

**विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥ ४ ॥**

जो (श्रेय और प्रेय मार्ग) विद्या और अविद्या के रूप में जाने गये हैं, वे दोनों परस्पर बिल्कुल विपरीत और भिन्न-भिन्न फल देने वाले हैं । हे नचिकेता ! तुमको हम श्रेय (आध्यात्मिक) मार्ग का साधक मानते हैं, क्योंकि तुम्हें (चकाचौंध पैदा करने वाले) भोग-विलास के साधनों ने प्रलोभित नहीं किया ॥ ४ ॥

**अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ।**

**दन्त्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ५ ॥**

अविद्या-अज्ञानान्धकार के मध्य में स्थित होते हुए भी स्वयं को विद्वानों और विशेषज्ञों की श्रेणी का मानने वाले मूढ़जन, अनेक प्रकार के कुटिल मार्गों का सहारा लेते हुए (ठीक उसी प्रकार) ठोकरें खाते फिरते हैं, जैसे अन्धों के हांसा ले जाये जाने वाले अन्धे ॥ ५ ॥

**न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।**

अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ ॥

धन के व्यामोह से जकड़े हुए विवेकहीन, प्रमादी मनुष्य के अन्तरंग में पारलौकिक विचारधारा का अभ्युदय नहीं होता; क्योंकि वह जीवन के अस्तित्व को प्रत्यक्षवाद पर ही आधारित मानता है। आध्यात्मिक जीवन के अस्तित्व को नकारने वाले शरीराभिमानी मनुष्य, बार-बार जन्म-मरण के बन्धन में घूमता हुआ हमारे (यमराज के) वशीभूत होकर रहता है ॥ ६ ॥

**श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृणवन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।**

**आश्वर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्वर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥**

जन साधारण को आत्म-तत्त्वज्ञान के संबंध में जानने का सुअवसर तक नहीं मिलता, अगर संयोग से ऐसा अवसर मिला भी, तो अधिकांश ज्ञान-प्रकाश के अभाव में अपने जीवन को तदनुरूप ढालने में सक्षम नहीं होते। उस तत्त्वज्ञान का भली प्रकार प्रतिपादन करने वाले भी अतिदुर्लभ ही हैं। उस ज्ञान को ग्रहण करने वाला भी कोई कुशल जिज्ञासु ही सुप्राप्त होता है। विशेषज्ञ आचार्य द्वारा तत्त्वज्ञान से अनुप्राणित तत्त्ववेत्ता भी अति दुर्लभ ही होता है ॥ ७ ॥

**न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।**

**अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान्हृतकर्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ ॥**

अनधिकारी मनुष्य (जिसने इसका भली प्रकार साक्षात्कार नहीं किया) द्वारा कहा गया यह आत्मतत्त्व सहजता से जानने योग्य नहीं। किसी तत्त्ववेत्ता आचार्य द्वारा न समझाये जाने पर भी इस सम्बन्ध में कोई प्रगति नहीं हो पाती। यह विषय बड़ा गूढ़ है, अतएव वह तर्क-वितर्क के दायरे में सीमाबद्ध नहीं है ॥ ८ ॥

**नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ट ।**

**यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृइनो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥**

हे प्रिय नचिकेता! श्रेष्ठ आत्मज्ञान के निमित्त शुष्क तर्क-वितर्क की ऊहापोह से भिन्न आपकी बुद्धि प्रखर है, ऐसी मेधा शक्ति को तर्क द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। हे नचिकेता! आप सचमुच ही यथार्थ सत्य के अन्वेषक हैं, (हमारी अन्तरंग इच्छा यही है कि) आप जैसे जिज्ञासु शिष्य ही हमें प्राप्त हों ॥ ९ ॥

**जानाम्यहः शेवधिरित्यनित्यं न हृष्टुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।**

**ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥ १० ॥**

मैं जानता हूँ कि यह कर्मफलजन्य सम्पदा नाशवान् है, नश्वर साधनों के द्वारा उस नित्य (आत्मतत्त्व) को प्राप्त किया जाना शक्य नहीं। मेरे द्वारा नाचिकेत अग्नि का चयन किया गया है। उन्हीं अनित्य पदार्थों अथवा साधनों द्वारा मैंने अभिलिष्ट नित्य आत्मतत्त्व (यम-पद) को प्राप्त किया है ॥ १० ॥

**कामस्यास्मि जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् ।**

**स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्त्राक्षीः ॥ ११ ॥**

हे नचिकेता! आपने भोग्य साधनों से भरपूर यज्ञ के चिरस्थायी फल से युक्त, असीम निर्भयता से युक्त, स्तुत्य और प्रशंसनीय प्रतिष्ठा से सम्पन्न स्वर्गलोक को धैर्यपूर्वक छोड़ दिया है। यह आपका अति बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय है ॥ ११ ॥

**तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्टं पुराणम् ।**

**अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥**

विशिष्ट तपः साधना द्वारा देखे जाने योग्य, सांसारिक विषय-वासनाओं से परे अत्यन्त गुप्त स्थान में स्थित, बुद्धिरूपी गुफा में निहित, गहन स्थल में विद्यमान अर्थात् अन्तःकरण में विराजमान सनातन उस दिव्य गुण सम्पत्र परमात्मा को अध्यात्मयोग के द्वारा जानकर बुद्धिमान् मनुष्य हर्ष और शोक से मुक्त हो जाता है ॥ १२ ॥

**एतच्छुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।**

**स मोदते मोदनीयः हि लब्ध्वा विवृतः सद्य नचिकेतसं मन्ये ॥ १३ ॥**

हे नचिकेता ! तुम्हारे जैसे साधक इस आत्मिक ज्ञान को सुनकर, इसे भली प्रकार ग्रहण कर तथा विवेकपूर्वक इस पर चिंतन करके धारण करने योग्य इस सूक्ष्म आत्मतत्त्व को समुचित रूप से जान लेते हैं । वे इस आनन्दस्वरूप आत्मा को पाकर चिरन्तन आनन्द में लीन हो जाते हैं । तुम्हारे निमित्त तो ब्रह्म प्राप्ति का द्वार सदैव खुला हुआ है, ऐसा मेरा मन्तव्य है ॥ १३ ॥

**अन्यत्र धर्माद्यत्राधर्माद्यत्रास्मात्कृतात् ।**

**अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद् ॥ १४ ॥**

(नचिकेता का कथन- ) हे यमराज ! जिस आत्मतत्त्व को आप यज्ञादि धर्मकृत्यों तथा शास्त्र-निषिद्ध कर्मों से पृथक् मानते हैं, जो कार्य-कारणरूप जगत् एवं भूत, भविष्यत् (तथा वर्तमानकाल) से भी भिन्न है, उसी परम आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में हमें बताएँ ॥ १४ ॥

**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाऽसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।**

**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदः संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ ॥**

(यम ने कहा- ) सभी वेद जिस ब्राह्मी स्थिति (परमपद) का बार-बार उल्लेख करते हैं । सभी तपः साधनाएँ जिस स्थिति का अनुभव कराती हैं, जिसे प्राप्त करने की अभिलाषा से साधकगण ब्रह्मचर्यादि व्रतों का पालन करते हैं । हे नचिकेता ! मैं तुमसे उसी स्थिति का संक्षेप में वर्णन करता हूँ । “ॐ” ही वह परमपद है ॥ १५ ॥

**एतद्वयेवाक्षरं ब्रह्म एतद्वयेवाक्षरं परम् ।**

**एतद्वयेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १६ ॥**

यह ॐ ही अक्षर ब्रह्म है । यही ॐ परब्रह्म अर्थात् सर्वोत्तम है । इसी अक्षर को भली प्रकार जानकर जो साधक जिस अभीष्ट की कामना करते हैं, उन्हें उसकी प्राप्ति होती है ॥ १६ ॥

**एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।**

**एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥**

यह प्रणव (ओङ्कार) ही आत्म साक्षात्कार का श्रेष्ठ अवलम्बन है । यही परमात्मा के ध्यान का आधार होने से सर्वश्रेष्ठ है । इस ब्रह्मप्राप्ति के आश्रय को जानकर साधकगण ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं ॥

**न जायते प्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।**

**अजो नित्यःशाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ ॥**

यह नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा न तो उत्पन्न होता है और न मृत्यु को ही प्राप्त होता है । यह आत्मा न तो किसी अन्य से उत्पन्न हुआ है और न इससे ही कोई उत्पन्न हुआ है । यह आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत

और क्षय तथा वृद्धि से रहित है । शरीर के नष्ट होने पर भी यह आत्मा विनष्ट नहीं होता ॥ १८ ॥

**हन्ता चेन्मन्यते हन्तुः हतश्चेन्मन्यते हतम् ।**

**उभौ तौ न विजानीतो नायः हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥**

यदि हनन करने वाला व्यक्ति अपने को मारने में सक्षम मानता है और हनन किया हुआ व्यक्ति स्वयं को मारा हुआ मानता है, तो वे दोनों ही (आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में) अनभिज्ञ हैं; क्योंकि यह आत्मा न तो किसी को विनष्ट ही करता है और न किसी के द्वारा इसे मारा जाना शक्य है ॥ १९ ॥

**अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।**

**तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २० ॥**

परमात्म चेतना इस जीवात्मा की हृदयरूपी गुफा में अणु से भी अतिसूक्ष्म और महान् से भी अति महान् रूप में विराजमान है। निष्काम कर्म करने वाले तथा शोकरहित कोई विरले साधक ही, परमात्मा की अनुकम्पा से ही उसे देख पाते हैं ॥ २० ॥

**आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।**

**कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ २१ ॥**

एक स्थान पर विद्यमान होते हुए भी वह परम चेतना दूर चली जाती है और शयन करते हुए भी सभी जगह गमन करती है। हर्षयुक्त और हर्षरहित उस देव को मेरे अतिरिक्त अन्य कौन भली प्रकार जानने में सक्षम हो सकता है ॥ २१ ॥

**अशारीरः शारीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।**

**महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २२ ॥**

जो शरीरों में शरीररहित तथा स्थिर न रहने वालों (अनित्यों) के मध्य नित्यस्वरूप में स्थित है। उस महान् सर्वव्यापक आत्मतत्त्व को जानकर बुद्धिमान् मनुष्य शोकातुर नहीं होते ॥ २२ ॥

**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।**

**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूः स्वाम् ॥ २३ ॥**

परमात्म तत्त्व को मात्र धर्मोपदेश सुनकर, स्तुति-वन्दना के रूप में उसकी चर्चा करके तथा शास्त्रों का अध्ययन करके नहीं जाना जा सकता। जिस पर उसकी कृपा होती है, वही उसे जान पाता है। वह परमात्मतत्त्व अधिकारी साधक के समक्ष अपने वास्तविक स्वरूप को स्वयं ही अभिव्यक्त कर देता है॥

[ जड़ पदार्थपरक ज्ञान सुनकर या पुस्तक से पढ़कर प्राप्त किया जा सकता है। आत्म तत्त्व परक ज्ञान-चेतन होता है, वह सत्पात्र का स्वयं वरण करता है। वह कैसे साधक का वरण करता है, यह तथ्य अगले मंत्र में स्पष्ट किया गया है । ]

**नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।**

**नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानैनमाप्नुयात् ॥ २४ ॥**

जो मनुष्य दुष्कर्मों के पाप से निवृत्त नहीं है, जिनकी इन्द्रियाँ स्वयं के नियन्त्रण में नहीं हैं तथा जिनके मन पूरी तरह से सांसारिकता से निवृत्त नहीं हैं, ऐसे व्यक्ति प्रकृष्ट ज्ञानवान् होते हुए भी परिष्कृत जीवन के अभाव में इस आत्मतत्त्व को जानने में समर्थ नहीं होते ॥ २४ ॥

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः ।

मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ २५ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सभी जिस परमात्मा का ओदन (अन्न-आहार) माने जाते हैं, स्वयं मृत्यु (काल) जिसका उपसेचन (शाकादि या जल की तरह आहार का सहयोगी) है, वह जहाँ भी है, जैसा है, उसे भला कौन जान सकता है ॥ २५ ॥

[इस मन्त्र में 'ब्रह्म एवं क्षत्र' सम्बोधन उपलक्षण रूप में प्रयुक्त प्रतीत होते हैं। ब्रह्म से सहज धर्मानुशासन अथवा विचार शक्ति का तथा क्षत्र से रक्षण या पुरुषार्थ की शक्ति का बोध होता है। इस प्रकार ये सम्बोधन जीव मात्र की विशेषताओं के प्रतीक सिद्ध होते हैं। वह परमात्म तत्त्व समय आने पर जीव मात्र को मृत्यु के संयोग से अपने अन्दर समाहित कर लेता है।]

## ॥ तृतीया वल्ली ॥

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्थे ।

छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्रयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥

(यम ने कहा-) ब्रह्मवेत्ताओं का ऐसा कथन है कि श्रेष्ठ कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त मनुष्य शरीर में सर्वश्रेष्ठ स्थल अन्तःकरण रूपी गुहा में स्थित कर्मफल को भोगने वाले दो परस्पर भिन्न तत्त्व छाया और धूप के सदृश विद्यमान हैं। जो तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करने वाले और पञ्चाग्नि (गार्हपत्य, दक्षिण, आहवनीय, सभ्य और आवस्थ्य) विद्या के साधक हैं, उनका भी ऐसा ही कथन है ॥ १ ॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् । अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतः शकेमहि ॥

जो श्रेष्ठ कर्मों के निष्पादक, साधकों को भवसागर से पार करने में समर्थ सेतु स्वरूप हैं, उस नाचिकेत अग्नि को हम भली प्रकार समझें। संसार रूप समुद्र से पार जाने के इच्छुक साधकों के लिए जो भयरहित सर्वश्रेष्ठ आश्रय (अवलम्बन) है, उस अक्षर ब्रह्म (नाशरहित परमात्मतत्त्व) को जानने में हम सक्षम हों ॥ २ ॥

आत्मानः रथिनं विद्धि शरीरः रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥

हे नचिकेता! आप आत्मतत्त्व को रथी (शरीररूपी वाहन का स्वामी), शरीर को रथ (वाहन), बुद्धि को रथ संचालक सारथि तथा मन को (इन्द्रियों रूपी अश्वों को वश में करने वाली) लगाम जानें ॥ ३ ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहर्मनीषिणः ॥

मनीषियों ने इन्द्रियों को अश्व की संज्ञा दी है तथा (रूप-रस-गन्धादि) विषयों को गोचर (इन्द्रियों रूपी अश्वों के विचरण करने का मार्ग) बतलाया है। इस प्रकार शरीर, इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को (सुख-दुःखादि का अनुभव करने वाला) भोक्ता बताया गया है ॥ ४ ॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥

जो सदा विवेकहीन बुद्धि वाला और अनियन्त्रित इन्द्रियों वाला होता है, उसकी इन्द्रियाँ उसी प्रकार उच्छृङ्खल हो जाती हैं, जिस प्रकार अविवेकी सारथि के दुष्ट अश्व ॥ ५ ॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥

प्रत्यनु जो विवेकशील बुद्धि वाले तथा नियन्त्रित मन वाले हैं, उनकी इन्द्रियाँ उसी प्रकार नियन्त्रित रहती हैं, जिस प्रकार श्रेष्ठ सारथि के वश में अच्छे घोड़े ॥ ६ ॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।

न स तत्पदमाप्नोति सर्वसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥

जो अविवेकयुक्त बुद्धि वाला, निग्रहरहित मन वाला और सदैव अशुद्ध रहने वाला है, वह कभी परमपद को प्राप्त नहीं कर सकता, वरन् बारम्बार संसार के जन्म-मरण-चक्र में परिभ्रमण करता रहता है ॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः ।

स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्द्वयो न जायते ॥ ८ ॥

किन्तु जो विवेक बुद्धि वाला, नियन्त्रित मन वाला और सदैव पवित्र रहने वाला है, वह उस परमपद को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से पुनरावर्तन नहीं होता ॥ ८ ॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।

सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥

जो मनुष्य विवेकयुक्त बुद्धिरूप सारथि वाला और मन को संयंत रखने वाला है, वह संसार सागर से पार होकर विष्णु भगवान् के परमपद को प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥

इन्द्रियों की अपेक्षा उनके विषय अधिक श्रेष्ठ हैं, विषय से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि और बुद्धि से भी उत्कृष्ट यह महान् आत्मा है ॥ १० ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

जीवात्मा से (ईश्वर की) अव्यक्त शक्ति श्रेष्ठ है, अव्यक्त शक्ति से वह पुरुष (परमपुरुष परमेश्वर) श्रेष्ठ है, उस परम पुरुष से श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है। वह सबकी पराकाष्ठा और परमगति है ॥ ११ ॥

एष सर्वेषु भूतेषु गृढोत्मा न प्रकाशते ।

दृश्यते त्वग्रहया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ १२ ॥

समस्त प्राणियों में छिपा हुआ यह आत्मतत्त्व प्रकाशित नहीं होता, वरन् सूक्ष्म दृष्टि रखने वाले तत्त्वदर्शियों को सूक्ष्म बुद्धि से ही दिखाई देता है ॥ १२ ॥

यच्छेद्वाइमनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ञान आत्मनि ।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥ १३ ॥

बुद्धिमान् (प्रज्ञावान्) व्यक्ति के लिए उचित है कि वह सर्वप्रथम वाक् आदि इन्द्रियों को मन में लीन करे, मन को ज्ञान स्वरूप बुद्धि में निरुद्ध करे, बुद्धि को महान् तत्त्व (आत्मा) में विलीन करे और उस आत्मा को परमपुरुष परमात्मा में नियोजित करे ॥ १३ ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४ ॥

(हे मनुष्यो !) जागो, उठकर खड़े होओ और श्रेष्ठ व ज्ञानी पुरुषों से ज्ञान प्राप्त करके परमात्म तत्त्व को जानो। विद्वज्ञन कहते हैं कि यह मार्ग उतना ही दुरुह है, जितना कि क्षुरे की धार पर चलना ॥ १४ ॥

**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।**

**अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ १५ ॥**

वह परब्रह्म शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से रहित है अर्थात् इन सबसे परे है। वह अविनाशी, अनादि और अनन्त है। वह आत्मा से भी उत्कृष्ट और ध्रुव (सत्यस्वरूप) है। उस परम तत्त्व को जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है ॥ १५ ॥

**नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तः सनातनम् ।**

**उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥**

नचिकेता के प्रति यमराज द्वारा उपदिष्ट इस सनातन उपाख्यान को जो मेधावी पुरुष कहते और सुनते हैं, वे ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं ॥ १६ ॥

**य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि ।**

**प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पत इति ॥ १७ ॥**

इस परम गूढ़ रहस्य को जो व्यक्ति शुद्ध भावना से ब्राह्मणों की सभा में अथवा श्राद्ध काल में सुनाता है, वह व्यक्ति (इस पुण्य कार्य के प्रभाव से) अनन्त (पुरुषार्थ या फल या परमात्मा) की प्राप्ति में समर्थ हो जाता है, निश्चित रूप से वह अनन्त को प्राप्त करता है ॥ १७ ॥

[ यहाँ “ब्रह्म संसद” ब्रह्मोन्मुख होकर साधनारत व्यक्तियों अथवा वृत्तियों के समूह के लिए प्रयुक्त सम्बोधन माना जा सकता है। इसी प्रकार ‘श्राद्ध काले’ का भाव जब श्रद्धा का उभार होता है, ऐसे अवसर का संकेत करता है। ब्रह्मोन्मुखी तथा श्रद्धासिक्तों के बीच यह तथ्य प्रकट करना निश्चित रूप से अनन्त फलदायक हो सकता है। उक्त परिस्थितियाँ न हों, तो इस विद्या का उल्लेख केवल जानकारी बढ़ाने तक ही सीमित रह जाता है। ]

## ॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

### ॥ प्रथमा वल्ली ॥

**पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराद् पश्यति नान्तरात्मन् ।**

**कश्चिद्दीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥**

स्वयंभू (परमात्मा) ने समस्त इन्द्रिय द्वार बहिर्मुख करके निर्मित किये हैं। इसलिए जीवात्मा बाह्य विषयों को ही देखता है- अन्तरात्मा को नहीं देखता। अमरत्व की आकांक्षा से जिसने अपनी चक्षु आदि इन्द्रियों पर संयम कर लिया है, ऐसा कोई धीर पुरुष ही अन्तरात्मा (प्रत्यगात्मा) को देख सकता है ॥ १ ॥

**पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।**

**अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥**

बालबुद्धि व्यक्ति ही बाह्य भोगों का अनुगमन करते हैं। ऐसा करने वाले व्यक्ति मृत्यु के भयंकर पाश में फँसते हैं; किन्तु विवेकवान् पुरुष अमस्ता को अटल जानकर जगत् के अनित्य पदार्थों की कामना नहीं करते ॥ २ ॥

मंत्र क्र. ३ से १३ तक यमदेव ने 'एतद्वै तत्- यही है वह' कहा है। लगता है कि व्याख्या के साथ नचिकेता को उस तत्त्व की अनुभूति भी कराते जा रहे हैं तथा उस तथ्य को दिखाते हुए कहते हैं-यही है वह - रहस्य, विद्या, आत्मतत्त्व या परमात्म तत्त्व, जिसे तुम समझना चाहते हो-

**येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पशार्शं शैथुनान् ।**

**एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्टते, एतद्वै तत् ॥ ३ ॥**

जिस अन्तश्चेतना के अनुग्रह से मनुष्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि इन्द्रिय सुखों का अनुभव करता है, उसी के अनुग्रह से यह भी जानता है कि यहाँ क्या अवशिष्ट रहता है ? यही (जो रह जाता है अथवा जानता है) वह (आत्मतत्त्व अथवा परमात्म तत्त्व) है ॥ ३ ॥

**स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।**

**महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ ४ ॥**

जिस चेतना के द्वारा मनुष्य जाग्रत् और स्वप्न दोनों स्थितियों में दृश्यमान पदार्थों को देखता है, उस सर्वव्यापी और महान् सर्वात्मा को जानकर धीर (बुद्धिमान्) पुरुष किसी भी स्थिति में शोक नहीं करते ॥ ४ ॥

**य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।**

**ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते, एतद्वै तत् ॥ ५ ॥**

जो पुरुष जीवन प्रदान करने वाले, कर्मफल प्रदान करने वाले और भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान काल में शासन करने वाले (आत्मतत्त्व) को अपने अत्यन्त समीप समझता है, वह उनके इस स्वरूप को कभी नहीं भूलता, न किसी की निन्दा करता है और न ही किसी से घृणा करता है। यही वह (परब्रह्म) है ॥ ५ ॥

**यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।**

**गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यते, एतद्वै तत् ॥ ६ ॥**

जो अपने तप से जल आदि पञ्चमहाभूतों से भी पूर्व उत्पन्न हुए तथा सबकी हृदय गुहा में निवास करने वाले ब्रह्म को इसी (उपर्युक्त) रूप में देखता है, वह यथार्थ जानता है। यही वह 'ब्रह्म' है ॥ ६ ॥

**या प्राणोन संभवत्यदिर्देवतामयी ।**

**गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत, एतद्वै तत् ॥ ७ ॥**

देव क्षमता सम्पन्न अदिति (देवमाता अदिति या अखण्ड चेतना) जो सर्वप्रथम प्राणों (जीवनी शक्ति) सहित उत्पन्न होती है, वह सभी की हृदय गुहा में प्रविष्ट होकर वहीं निवास करती है। यही वह ब्रह्म है ॥

**अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभूतो गर्भिणीभिः ।**

**दिवे दिव ईड्यो जागृवद्धिर्विष्मद्विर्मनुष्येभिरग्निः, एतद्वै तत् ॥ ८ ॥**

जिस प्रकार गर्भवती स्त्रियों द्वारा विधिवत् पोषित गर्भ धारण किया जाता है, उसी प्रकार जातवेदा अग्नि दो अरण्यों के मध्य स्थित रहता है। वह प्रज्वलित होकर, हवन करने योग्य सामग्रियों से युक्त पुरुषों द्वारा प्रतिदिन स्तुत्य होता है। यही वह ब्रह्म है ॥ ८ ॥

**यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।**

**तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत् ॥ ९ ॥**

जहाँ से सूर्यदेव उदित होते हैं और जहाँ तक जाते हैं अर्थात् अस्त होते हैं, वहाँ समस्त देव शक्तियाँ

विद्यमान हैं, उसे कोई भी लाँघने में समर्थ नहीं है। यही वह (परमेश्वर) है ॥ ९ ॥

**यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।**

**मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १० ॥**

जो सर्वप्रथम परमेश्वर को इहलोक और परलोक में अलग-अलग रूपों में देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् उसे बारम्बार जन्म-मरण के चक्र में फँसना पड़ता है ॥ १० ॥

**मनसैवेदमासव्यं नेह नानास्ति किंचन ।**

**मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥ ११ ॥**

सत्य अथवा शुद्ध मन से ही परमात्मा का तत्त्व जाना जा सकता है। इस जगत् में ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं हैं; किन्तु जो व्यक्ति इसमें भिन्नता देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु का वरण करता है ॥ ११ ॥

**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।**

**ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्तते, एतद्वै तत् ॥ १२ ॥**

जो परम पुरुष अङ्गुष्ठ परिमाण में प्राणी की देह के मध्य भाग में स्थित है, वह भूत, भविष्यत् और वर्तमान का शासक है। उसे इस प्रकार जान लेने के बाद प्राणी न तो किसी की निन्दा करता है और न ही किसी से घृणा करता है। यही वह ब्रह्म है ॥ १२ ॥

**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।**

**ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः, एतद्वै तत् ॥ १३ ॥**

वह अङ्गुष्ठ परिमाण वाला परमात्मा धूएँ से रहित प्रखर ज्योति के समान है, जो सब पर शासन करता है। वह (नित्य सनातन) ब्रह्म जैसा कल था, वैसा ही आज भी (अपरिवर्तनीय) है। यही वह परब्रह्म है ॥ १३ ॥

**यथोदकं दुर्गं वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।**

**एवं धर्मान्यृथक् पश्यस्तानेवानुविधावति ॥ १४ ॥**

जिस प्रकार वर्षा का जल ऊँचे शिखरों पर बरस कर पहाड़ के नीचे विभिन्न स्थलों में चला जाता है, उसी प्रकार विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय वालों (अथवा विभिन्न स्वभाव वाले मनुष्यों-असुरों और देवों) को जो परमेश्वर से भिन्न देखता है, वह उन्हीं का अनुगमन करता है (अर्थात् उस बिखरे जल की तरह विभिन्न देव-असुर आदि के लोकों व योनियों में भटकता रहता है) ॥ १४ ॥

**यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिकं तादृगेव भवति ।**

**एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥ १५ ॥**

हे गौतम (नचिकेता)! जिस प्रकार शुद्ध जल सिंचित होने पर (जहाँ जाता है) उसी रूप में बदल जाता है, इसी प्रकार ज्ञानी (इस तथ्य को समझ लेने वाले) की आत्मा भी उसी प्रकार हो जाती है ॥ १५ ॥

[ यमदेव शुद्ध जल के उदाहरण से आत्म तत्त्व को समझा रहे हैं। शुद्ध जल जिस किसी पात्र में जाता है, उसी रूप में ढल जाता है। पौधों में वह उनका रस, प्राणियों में उनका रक्त बन जाता है, उसे कोई विकार नहीं होता। ज्ञानी अपनी चेतना को पदार्थ आदि भोगों से अलिप्त रखता है, इसलिए वह शुद्ध जल की तरह किसी के भी साथ एकाकार हो सकता है। विभिन्न विषयों से लेकर देवशक्तियों तथा परमात्म तत्त्व के साथ वह एकरूप हो सकता है। नचिकेता उसी अलिप्त रहने की क्षमता से सम्पन्न साधक को कहा जाता है। उसको सत्यात्र समझ कर ही यमदेव यह विद्या उपलब्ध कराते हैं। ]

## ॥ द्वितीया वल्ली ॥

**पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्चेतसः ।**

**अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते, एतद्वै तत् ॥ १ ॥**

चैतन्य और अज परब्रह्म का नगर ग्यारह द्वारों वाला है (दो नेत्र, दो कान, दो नाक के छिद्र, एक मुख, नाभि, गुदा, जननेन्द्रिय और ब्रह्मरन्ध शरीर के ये ग्यारह छिद्र ही ग्यारह द्वार हैं)। उस परमेश्वर का निष्ठापूर्वक ध्यान-अनुष्ठान करने वाला जीव कभी शोक नहीं करता और शरीर के स्थित रहते हुए ही कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है। यही है वह (परब्रह्म) ॥ १ ॥

**हःसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्गोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।**

**नृषद्वरसदृतसदव्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ २ ॥**

वह हंस (जीवात्मा या परब्रह्म) प्रकाशित है, वही अन्तरिक्ष में स्थित वसु है, घरों में होने वाला अतिथि भी वही है। यज्ञवेदिका पर स्थित अग्नि और आहुति प्रदान करने वाला होता भी वही है। मनुष्यों में श्रेष्ठ देव, पितृ आदि रूपों में भी वही प्रतिष्ठित है। वही सत्य और आकाश में भी निवास करने वाला है। जल, पर्वतों, पृथ्वी, और सत्कर्मों में प्रकट होने वाला वही परम सत्य है ॥ २ ॥

**ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति । मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ॥ ३ ॥**

जो ब्रह्म प्राण तत्त्व को ऊर्ध्वर्गामी करता है और अपान वायु को अधोगामी करता है, हृदय के मध्य स्थित उस वामन (भजन करने योग्य) की सभी देवगण उपासना करते हैं ॥ ३ ॥

**अस्य विस्त्रःसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।**

**देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते, एतद्वै तत् ॥ ४ ॥**

शरीर में स्थित एक देह से दूसरे देह में गमन करने के स्वभाव वाला यह जीवात्मा जब एक शरीर को छोड़कर दूसरे में (मृत्युपरान्त) चला जाता है, तब क्या शेष रहता है? यही वह ब्रह्म है ॥ ४ ॥

**न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कञ्चन । इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥**

हे गौतम! कोई भी मरणधर्मा प्राणी न प्राण की शक्ति से और न ही अपान की शक्ति से जीवित रहता है, वरन् उसे जीवन प्रदान करने वाला कोई अलग ही तत्त्व है। जिसके आश्रय में प्राण और अपान ये दोनों ही रहते हैं ॥ ५ ॥

**हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।**

**यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ ६ ॥**

(यमराज का कथन - ) हे (गौतम वंशीय) नचिकेता! अब मैं तुम्हें उस नित्य सनातन परब्रह्म का रहस्य बतलाऊँगा तथा यह भी वर्णन करूँगा कि मृत्यु के बाद आत्मा का क्या होता है अर्थात् वह कहाँ जाता है? ॥ ६ ॥

**योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।**

**स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥**

अपने-अपने कर्म और शास्त्राध्ययन के अनुसार प्राप्त हुए भाव के कारण कुछ जीवात्मा तो शरीर धारण करने के लिए विभिन्न योनियों को प्राप्त करते हैं और अन्य (कितने ही अपने कर्मानुसार) स्थावरत्व को प्राप्त होते हैं (अर्थात् वृक्ष, लता, पर्वत आदि जड़ योनियों में जाते हैं) ॥ ७ ॥

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म  
तदेवामृतमुच्यते । तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

समस्त जीवों के कर्मानुसार उनके निमित्त भोगों का निर्माण और व्यवस्था करने वाला परम पुरुष परमात्मा सबके सो जाने पर भी जाग्रत् रहता है । वही विशुद्ध तत्त्व, परब्रह्म अविनाशी कहलाता है, जिसे कोई लाँघ नहीं सकता और समस्त लोक जिसका आश्रय ग्रहण किये रहते हैं । वही यह ब्रह्म है ॥ ८ ॥

अब यम यह समझाते हैं कि परमात्मा की तरह अग्नि आदि तत्त्व भी अलिप्त रहकर ही विश्वरूप बन पाते हैं-  
अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥

जिस प्रकार एक ही अग्नि तत्त्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट होकर प्रत्येक आधारभूत वस्तु के अनुरूप हो जाता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों में स्थित अन्तरात्मा (ब्रह्म) एक होने पर भी अनेक रूपों में प्रतिभासित होता है । वही उनके बाहर भी है ॥ ९ ॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १० ॥

जिस प्रकार इस लोक में प्रविष्ट वायु एक होता हुआ भी प्रत्येक रूप के अनुसार (अर्थात् विभिन्न वस्तुओं के संयोग से) भिन्न-भिन्न शक्तियुक्त प्रतीत होता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों में विद्यमान परमात्मा एक होने पर भी विभिन्न रूप वाला प्रतीत होता है । वही उनके बाहर भी है ॥ १० ॥

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥ ११ ॥

जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड का चक्षुरूप सूर्य प्राणियों के चक्षुओं से उत्पन्न होने वाले बाह्य दोषों से लिप नहीं होता, उसी प्रकार सब भूतों (प्राणियों) में आत्मारूप से स्थित परमेश्वर-उन जीवों के दुःख - क्लेश आदि से लिप नहीं होता । सब भूतों के अन्तर में रहकर भी वह बाहर ही विराजमान है ॥ ११ ॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥

समस्त शरीरधारियों में (अन्तरात्मा के रूप में) निवास करने वाला तथा सबको वश में रखने वाला परब्रह्म एक होते हुए भी अनेक रूप धारण कर लेता है । जो विद्वान् सदैव अपने अन्तःस्थल में स्थित उस परब्रह्म के दर्शन करते हैं, उन्हें ही शाश्वत सुख प्राप्त होता है, अन्यों को नहीं ॥ १२ ॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ १३ ॥

जो समस्त चैतन्यों में चैतन्य और नित्यों में भी नित्य है, जो एकाकी होते हुए समस्त जीवों के कर्मानुसार उनका फल प्रदाता है, उस आत्मस्थ परमेश्वर का बुद्धिमान् जन निरन्तर दर्शन करते रहते हैं । ऐसे मेधावी पुरुष ही शाश्वत शान्ति प्राप्त करते हैं, दूसरे नहीं ॥ १३ ॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।

कथं तु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥ १४ ॥

उस अनिवर्चनीय आनन्द को ही विद्वज्जन ब्रह्म मानते हैं। उस परब्रह्म को किस तरह जाना जाय? क्या वह प्रत्यक्षतः प्रकट होता है अथवा अनुभव से जानने योग्य है? ॥ १४ ॥

**न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।**

**तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १५ ॥**

वहाँ (ब्रह्म के निकट) न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा, न तारागण और न विद्युत् ही प्रकाशित होती है, फिर यह (लौकिक) अग्नि किस तरह प्रकाशित हो सकती है? उसके (परब्रह्म के) प्रकाश से ही ये सब प्रकाशित होते हैं। सम्पूर्ण जगत् उसके ही प्रकाश से प्रकाशित है ॥ १५ ॥

## ॥ तृतीया वल्ली ॥

**ऊर्ध्वमूलोऽवाकृशाख एषोऽश्वत्थः सनातनः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।  
तस्मैल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत् ॥ १ ॥**

जिसकी जड़ें ऊपर और शाखाएँ नीचे की ओर हैं, वह अश्वत्थ वृक्ष सनातन है। वह विशुद्ध तत्त्व अविनाशी है, वही ब्रह्म है। समस्त लोक उसी का आश्रय ग्रहण करते हैं, उसका कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता, यही वह ब्रह्म है ॥ १ ॥

[ वृक्ष की जड़ों से एक जैसा ही रस संचरित होता है। पत्तियों, पुष्टों में वह वृक्ष के गुण के अनुसार रूपान्तरित हो जाता है। सृष्टि रूपी सनातन वृक्ष का मूल ऊपर अनन्ताकाश में है। वहाँ से संचरित रस सृष्टि के घटकों में पहुँच कर अनेक रूपों में प्रकट होता है। ]

**यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।**

**महद्द्वयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ ॥**

यह सम्पूर्ण विश्व उस प्राणरूप ब्रह्म से ही निःसृत(प्रकट) होकर उसी में गतिशील है। जो उस महान् भयंकर प्रहारोदयत वज्र की तरह ब्रह्म को जानते हैं, वे अमृतत्व को प्राप्त करते हैं ॥ २ ॥

**भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः । भयादिन्दश्व वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३ ॥**

इन परब्रह्म के भय से अग्निदेव तपते हैं, इन्हीं के भय से सूर्यदेव तपते हैं, इन्हीं के भय से इन्द्र, वायु और पाँचवें मृत्यु देवता दौड़ते हैं। (अर्थात् परब्रह्म की आज्ञानुसार ही सभी देवता अपने-अपने नियत कार्य सम्पन्न करते हैं) ॥ ३ ॥

**इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्त्रसः । ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥**

शरीरान्त होने से पूर्व ही यदि (व्यक्ति) ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो (जीव) बन्धन से छूट जाता है। यदि नहीं प्राप्त कर पाया, तो (बारम्बार) विभिन्न योनियों में भ्रमण करता है ॥ ४ ॥

[ यहाँ ज्ञान का अर्थ स्थूल जानकारी मात्र नहीं है, उसे अनुभवगम्य बनाने की आवश्यकता है। ]

**यथादर्शं तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ।**

**यथाप्मु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥**

विशुद्ध अन्तःकरण दर्पण के समान है अर्थात् जिस प्रकार निर्मल दर्पण में वस्तु का स्वरूप स्पष्ट दिखता है। पितृलोक में ब्रह्म का दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार विशुद्ध अन्तःकरण में ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट दिखता है।

रूप स्पष्ट नहीं दिखता है (क्योंकि प्राणियों को पूर्व जन्म की स्मृति रहने के कारण उनका सम्बन्ध पूर्व सम्बन्धियों से बना रहता है)। गन्धर्व लोक में भी ब्रह्म का स्वरूप जल (की लहरों) के समान अस्पष्ट दिखाई पड़ता है (क्योंकि वहाँ भोगों से लिस रहने के कारण ब्रह्म दर्शन ठीक से नहीं हो पाता); किन्तु ब्रह्मलोक में छाया और धूप की भाँति आत्मा और परमात्मा का स्वरूप स्पष्ट परिलक्षित होता है ॥ ५ ॥

**इन्द्रियाणां पृथगभावमुदयास्तमयौ च यत् । पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥**

उदय और लय होते रहने के स्वभाव से युक्त अलग-अलग स्थानों में स्थित अनेक रूपों वाली इन्द्रियों को जानने वाला ज्ञानी पुरुष कभी शोक नहीं करता ॥ ६ ॥

**इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् । सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ।**

इन्द्रियों से मन उत्तम है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धि से जीवात्मा उत्कृष्ट है और जीवात्मा की अपेक्षा अव्यक्त शक्ति उत्तम है ॥ ७ ॥

अव्यक्तात् परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्गं एव च ।

यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥

अव्यक्त शक्ति (प्रकृति) से व्यापक और आकार रहित परम पुरुष परमात्मा श्रेष्ठ है, जिसको जानकर जीवात्मा बन्धन से मुक्त हो जाता है और अमरत्व को प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

**न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।**

**हृदा मनीषी मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥**

इस ब्रह्म का यथार्थ रूप अपने समक्ष प्रकट नहीं होता। परमेश्वर के दिव्य स्वरूप को कोई इन चर्म-चक्षुओं से नहीं देख सकता। मन को वश में करने वाली विवेक बुद्धि तथा सद्ग्राव सम्पन्न हृदय द्वारा बारम्बार चिन्तन-मनन करने से ही उसका सम्यक् दर्शन हो सकता है। जो ब्रह्म को इस प्रकार जानते हैं, वे अमृतत्व को प्राप्त करते हैं ॥ ९ ॥

**यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥**

जब मन के साथ पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ (आत्मतत्त्व में) स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टारहित हो जाती है, तब इस स्थिति को (जीवात्मा की) परमगति कहते हैं ॥ १० ॥

**तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।**

**अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥**

इस प्रकार इन्द्रियों की स्थिर धारणा का नाम ही योग माना जाता है। उस समय साधक प्रमाद रहित हो जाता है; किन्तु यह योग उदय और अस्त होने के स्वभाव से युक्त है (अतः परमात्मेच्छु को योग युक्त रहने का दृढ़ अभ्यासी होना चाहिए) ॥ ११ ॥

**नैव वाचा न मनसा प्रामुङ्गशक्यो न चक्षुषा । अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ १२ ॥**

उस परमात्मा को न वाणी के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और न नेत्रों से। उसे मन के द्वारा भी नहीं प्राप्त किया जा सकता है। 'वह ब्रह्म अवश्य है' ऐसा कहने मात्र से भला उसे कौन प्राप्त कर सकता है? ॥ १२ ॥

**अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।**

**अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ १३ ॥**

अस्ति (वह है) और नास्ति (वह नहीं है) इन दो मान्यताओं में तत्त्वभाव (समस्त इन्द्रियादि सहित मन-बुद्धि को एक करके अनुभव करने की क्षमता) द्वारा 'अस्ति' भाव ही प्राप्त करने योग्य है। इस प्रकार की उपलब्धि करने वाले से (अन्तःचेतन) प्रसन्न होता है। (वह आत्मदेव ही प्रसन्न होकर ब्रह्मानुभूति का मार्ग खोल देता है) ॥ १३ ॥

**यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्रुते ।**

व्यक्ति के हृदय में अनेक प्रकार की सांसारिक कामनाएँ रहती हैं, जब इनका समूल विनाश हो जाता है, तब मनुष्य यहाँ (इसी संसार में) ईश्वर का साक्षात्कार कर लेता है और अमर हो जाता है ॥ १४ ॥

[अन्य कामनाएँ रहते तत्त्वभाव बिखरा रहता है। उसके एक होने पर ही साक्षात्कार की स्थिति बनती है।]

**यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्वद्यनुशासनम् ॥ १५ ॥**

जब हृदय-ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, तब यह मरणधर्मा मनुष्य अमरत्व को प्राप्त करता है, यही वेदान्त का अनुशासन है ॥ १५ ॥

**शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानिमभिनिः सृतैका ।**

**तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वद्वद्वन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ १६ ॥**

हृदय में एक सौ एक नाड़ियों का समूह है, उसमें से एक मूर्धा (कपाल) का भेदन करके बाहर निकलती है। उसके द्वारा ऊर्ध्वगमन करने वाला साधक अमृतत्व को प्राप्त करता है। अन्य अवशिष्ट नाड़ियाँ प्राणोत्सर्ग में सहायक होती हैं। (उनसे निकला प्राण कामनाओं के अनुरूप विभिन्न योनियों में जाता है) ॥

**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः । तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्चादिवेषीकां धैर्येण । तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥ १७ ॥**

सबका अन्तरात्मा अङ्गुष्ठ परिमाण वाला है, जो परम पुरुष (परब्रह्म) के रूप में सदैव सबके हृदय देश में प्रतिष्ठित है। जिस प्रकार मूँज से उसकी सींक अलग की जाती है, उसी प्रकार मनुष्य के लिए उचित है कि वह धैर्यपूर्वक अपनी आत्मा को शरीर से पृथक् करे (पृथक् करके देखे-अनुभव करे), उसे अमृत रूप और शुक्र (शुद्ध) समझे। वह अमृत स्वरूप ही है ॥ १७ ॥

**मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् ।**

**ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽयेवं यो विदध्यात्ममेव ॥ १८ ॥**

मृत्यु (अर्थात् यमराज) द्वारा उपदिष्ट इस विद्या को पाकर नचिकेता समस्त विकारों से रहित और सर्वथा शुद्ध होकर जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो गया और ब्रह्मभाव (ब्रह्मत्व) को प्राप्त हो गया। अन्य कोई जो इस अध्यात्म तत्त्व को इस प्रकार समझेगा, वह भी ऐसी ही स्थिति प्राप्त करेगा अर्थात् वह भी ब्रह्मरूप होकर भवबन्धनों से मुक्त हो जायेगा ॥ १८ ॥

**॥ शान्तिपाठः ॥**

**ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥**

**॥ इति कठोपनिषत्समाप्ता ॥**



## ॥ केनोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेदीय 'तलवकार ब्राह्मण' के नवें अध्याय के अन्तर्गत है। इसे तलवकार उपनिषद् तथा 'ब्राह्मणोपनिषद्' भी कहा जाता है। उपनिषद् का प्रारम्भ प्रश्न 'केनेषितं.....' (यह जीवन किसके द्वारा प्रेरित है?) से हुआ है। इसमें उस 'केन' (किसके द्वारा) का विवेचन होने से इसे 'केनोपनिषद्' कहा गया है। सर्वप्रेरक उस परब्रह्म की महिमा और उसके स्वरूप का बोध कराते हुए ऋषि ने स्पष्ट किया है कि कहने-सुनने में ब्रह्म तत्त्व जितना सुगम है, अनुभूति में वह उतना ही दुरुह है। प्रथम एवं द्वितीय खण्ड में गुरु-शिष्य संवाद के रूप में सुन्दर ढंग से उस प्रेरक सत्ता की विशेषताओं, उसकी अनुभूति तथा उसे जान लेने की अनिवार्य आवश्यकताओं का वर्णन किया गया है। तीसरे और चौथे खण्ड में देवताओं के अधिमान तथा मानमर्दन के लिए यक्ष रूप में ब्राह्मी चेतना के प्रकट होने का उपाख्यान है। बाद में उमादेवी द्वारा प्रकट होकर देवों के लिए ब्रह्म तत्त्व का वर्णन किया गया है। अन्त में परब्रह्म की उपासना के ढंग और फल का उल्लेख करते हुए ब्रह्मविद्या के संसाधनों के साथ उस रहस्य को जानने की महिमा का वर्णन है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि  
सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्या मा मा ब्रह्म निराकरणमस्त्वनिराकरणं  
मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मस्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

### ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परमात्मन् ! हमारे सभी अङ्ग पुष्ट हों, हमारी वाणी, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, बल और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ पुष्ट हों। यह उपनिषद् (प्रतिपादित ज्ञान) ब्रह्म है, हम इसे अस्वीकार न करें। यह हमारा परित्याग न करे। हमारा इसके साथ अथवा इसका हमारे साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध हो। उपनिषदों में जो (धर्म, ज्ञान आदि) वर्णित हैं, वे हममें प्रविष्ट हों, हममें समाविष्ट हों। त्रिविध तापों की शान्ति हो।

### ॥ प्रथमः खण्डः ॥

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।

केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥ १ ॥

किसके द्वारा प्रेरित किया हुआ यह मन अपने विषयों तक पहुँचता है? किसके द्वारा नियोजित किया हुआ यह श्रेष्ठ प्राण चलता है? किसके द्वारा प्रेरित की हुई वाणी को मनुष्य बोलते हैं? कौन सा अव्यक्त देव हमारे नेत्रों और कानों को कार्य में नियुक्त करता है? ॥ १ ॥

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचः स उ प्राणस्य प्राणः ।

चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ २ ॥

जो (परमात्मतत्त्व) कर्णेन्द्रिय का श्रोत्र (श्रवण शक्ति) है, मन का मन (मनन क्षमता) है, वागिन्द्रिय की वाणी (वाक् शक्ति), प्राण का प्राण (संचालक) है, चक्षु का चक्षु (दर्शन क्षमता) है, अर्थात् जो इन सबका कारणभूत तत्त्व है, (उसे जानने वाले) धीर पुरुष (जो चक्षु, श्रोत्र, मन आदि के आवेगों से उद्भेदित नहीं होते) इस लोक से जाते हुए (अथवा जीवन मुक्त होकर) अमर हो जाते हैं ॥ २ ॥

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वागच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्या-  
दन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वोणं ये नस्तद्वयाचचक्षिरे ॥ ३ ॥

वहाँ (परब्रह्म परमात्मा तक) चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों, वाक् आदि कर्मेन्द्रियों तथा मन की भी पहुँच नहीं है । उसे जानने की बुद्धि हममें नहीं है, न ही किसी अन्य की व्याख्या से यह संभव हो सकता है, क्योंकि वह ज्ञात और अज्ञात सभी तत्त्वों से सर्वथा परे हैं- ऐसा हमने अपने पूर्वाचार्यों के मुख से सुना है, जिन्होंने हमें उस ब्रह्म के विषय में भली-भाँति व्याख्या करके समझाया है ॥ ३ ॥

**यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ४ ॥**

जो वाणी के द्वारा वर्णित नहीं किया जा सकता; अपितु वाणी ही जिसकी महिमा से प्रकट होती है, उसे ही तुम ब्रह्म समझो । वाणी द्वारा निरूपित जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥

**यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ५ ॥**

मन से जिसका मनन नहीं किया जा सकता; अपितु मन जिसकी महत्ता से मनन करता है, उसी को ब्रह्म समझो । मन द्वारा मनन किए हुए जिसकी लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥

**यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षुःषि पश्यति । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥**

जिसे चक्षु के द्वारा नहीं देखा जा सकता; अपितु चक्षु जिसकी महिमा से देखने में सक्षम होता है, उसे ही तुम ब्रह्म जानो । चक्षु के द्वारा दृष्टव्य जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥ ६ ॥

**यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदः श्रुतम् । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥**

श्रोत्र से जिसे नहीं सुना जा सकता; अपितु श्रोत्र जिसकी महत्ता से सुनने में सक्षम होता है, उसे ही तुम ब्रह्म जानो । श्रोत्रेन्द्रियगम्य जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥ ७ ॥

**यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥**

जो प्राण के द्वारा प्रेरित नहीं होता; किन्तु प्राण जिससे प्रेरित होते हैं, उसे ही तुम ब्रह्म जानो । प्राण शक्ति से क्रियाशील जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥ ८ ॥

## ॥ द्वितीयः खण्डः ॥

**यदि मन्यसे सुवेदेति दध्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम् ।**

**यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥ १ ॥**

(आचार्य का कथन) यदि तुम्हारी यह मान्यता है कि मैं ब्रह्म को भली-भाँति जान गया हूँ तो निश्चय ही तुमने ब्रह्म का अत्यल्प अंश जाना है, क्योंकि उस परब्रह्म का जो अंश तुझमें है और जो अंश देवताओं में है, वह सब मिलकर भी ब्रह्म का पूर्ण स्वरूप नहीं है, अतः तुम्हारा जाना हुआ निश्चय ही विचारणीय है ॥ १ ॥

**नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च । यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥ २ ॥**

(शिष्य का उत्तर) हमने ब्रह्म को भली-भाँति जान लिया है, ऐसा नहीं मानते और न ऐसा ही मानते हैं कि हम उसे पूर्णतया नहीं जानते; क्योंकि उसे जानते भी हैं । हम जानते हैं अथवा नहीं जानते-दोनों उत्तर अपूर्ण हैं । हमारे इस कथन को वही जानता है, जो उस ब्रह्म को जानता है ॥ २ ॥

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः । अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

जो यह मानता है कि ब्रह्म जानने में नहीं आता, वह ब्रह्म को जानता है एवं जो यह मानता है कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ, वह उसे नहीं जानता; क्योंकि जानने का अभिमान करने वालों के लिए वह ब्रह्म जाना हुआ नहीं है और जानने के अभिमान से रहित पुरुष के लिए वह जाना हुआ है ॥ ३ ॥

**प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते । आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दते अमृतम् ॥**

वह बोध जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उसी से मनुष्य अमृत स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त करता है । आत्मा (अथवा आत्मज्ञान) के द्वारा मनुष्य बल को प्राप्त करता है, उसी आत्मा के बल को जानने की विद्या से वह अमृतस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।

**भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ ५ ॥**

जिसने यदि इसी जन्म में उस परब्रह्म को प्राप्त कर लिया, तो उसने यथार्थ (लक्ष्य) पा लिया, जो इस जीवन में उसे नहीं जान पाया, तो उसने (अमूल्य अवसर गाँवाकर) अपनी महती हानि की । अतः बुद्धिमान् पुरुष प्रत्येक प्राणी में और प्रत्येक तत्त्व में उस परमात्म सत्ता को व्याप्त जानकर इस लोक से प्रयाण कर अमर हो जाते हैं ॥ ५ ॥

### ॥ तृतीयः खण्डः ॥

पिछले दो खण्डों में प्रत्येक दिव्य प्रवाह की शक्ति के मूल कारण रूप जिस परमात्म तत्त्व की विवेचना की गयी है, अगले दो खण्डों में उसी तथ्य को कथानक के माध्यम से स्पष्ट किया गया है-

**ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त ।**

**त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽ स्माकमेवायं महिमेति ॥ १ ॥**

(एक समय) उस ब्रह्म ने देवों को निमित्त बनाकर असुरों पर विजय प्राप्त की; परन्तु देवों को उस विजय का अभिमान हो गया और वे इस विजय को अपनी ही महिमा का प्रभाव समझने लगे ॥ १ ॥

**तद्घैरां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बर्भूव तत्र व्यजानत किमिदं यक्षमिति ॥ २ ॥**

उन ब्रह्म ने देवों के उस अहं भाव को जान लिया और तब उनके सामने वह यक्ष रूप में प्रकट हुआ, परन्तु देवगण उसे नहीं पहचान सके और कहने लगे - 'यह दिव्य यक्ष कौन है' ॥ २ ॥

**तेऽ ग्रिमब्रुवञ्चातवेद एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥ ३ ॥**

देवों ने अग्नि से कहा-हे देव! आप पता लगाएँ कि यह कौन है? इस पर उन्होंने कहा- बहुत अच्छा ।

**तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽ सीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥**

अग्निदेव तेजी से दौड़कर यक्षरूप ब्रह्म के पास पहुँचे । यक्ष ने पूछा- आप कौन हैं? इस पर अग्निदेव ने कहा- मैं अग्नि हूँ, मुझे ही लोग जातवेदा कहते हैं ॥ ४ ॥

**तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदः सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ५ ॥**

यक्ष ने अग्निदेव से पूछा- आप में क्या शक्ति है? ऐसा पूछे जाने पर अग्निदेव ने कहा- मैं चाहूँ तो इस पृथ्वी पर जो कुछ भी है, उसे भस्म कर सकता हूँ ॥ ५ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतद्द्वेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तत्र शशाक दग्धुं स तत एव निवृते नैतदशकं विजातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ ६ ॥

तब यक्ष ने अग्निदेव के समक्ष एक तिनका रखकर उसे भस्म करने के लिए कहा; परन्तु अपनी पूरी शक्ति लगाने पर भी वे उसे जलाने में समर्थ नहीं हुए । तब वे वहाँ से लौटकर देवों से कहने लगे- मैं इस दिव्य यक्ष को जानने में असमर्थ रहा ॥ ६ ॥

अथ वायुमब्रुवन्वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥ ७ ॥

तदनन्तर देवों ने वायुदेव से कहा- हे वायुदेव ! इस रहस्य का आप ही पता लगाएँ । उस दिव्य यक्ष के विषय में पता लगाना उन्होंने स्वीकार किया ॥ ७ ॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥

वायुदेव द्रुतगति से दौड़कर उस यक्ष के पास पहुँचे । यक्ष द्वारा परिचय पूछा गया- आप कौन हैं ? वायुदेव ने कहा- मैं प्रसिद्ध वायुदेव हूँ । मुझे ही मातरिश्वा कहते हैं ॥ ८ ॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदः सर्वमादर्दीय यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ९ ॥

यक्ष ने पूछा- आपमें क्या सामर्थ्य है ? वायुदेव बोले- इस पृथ्वी पर जो कुछ भी है, मैं उसे उड़ा ले जा सकता हूँ ॥ ९ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तत्र शशाकादातुं स तत एव निवृते नैतदशकं विजातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ १० ॥

तब उस यक्ष ने उनके सामने तिनका रखकर उसे उड़ाने के लिए कहा; परन्तु अपनी सारी शक्ति लगाकर भी वायुदेव उसे उड़ा सकने में समर्थ नहीं हुए । तब वहाँ से लौटकर उन्होंने देवों के सामने उस यक्ष को समझ पाने में अपनी असमर्थता व्यक्त की ॥ १० ॥

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति । तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे ॥

तब देवों ने इन्द्रदेव से कहा- हे मघवन् ! आप ही इस बात का पता लगाएँ कि यह यक्ष कौन है ? इन्द्रदेव ने यक्ष के विषय में पता लगाना स्वीकार किया और यक्ष की ओर दौड़े; परन्तु इन्द्रदेव के वहाँ पहुँचते ही यक्ष अन्तर्धान हो गया ॥ ११ ॥

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमाः हैमवर्तीं ताः होवाच किमेतद्यक्षमिति ॥ १२ ॥

तब इन्द्रदेव उसी आकाश में स्थित अतिशय शोभामयी भगवती हैमवती (हिमाचल पुत्री) उमादेवी के पास (आ) गये और उनसे पूछने लगे- यह यक्ष कौन था ? ॥ १२ ॥

## ॥ चतुर्थः खण्डः ॥

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ततो हैव विदांचकार ब्रह्मेति ॥

उमादेवी बोलीं- वे ब्रह्म हैं, उनकी विजय को तुम लोगों ने अपने अहंभाव से अपनी विजय मान लिया था । देवी उमा के इस उत्तर से इन्द्रदेव ने स्पष्ट समझ लिया कि वह दिव्य यक्ष निश्चय ही ब्रह्म थे ॥ १ ॥

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान्यदग्निर्वायुरिन्द्रस्तेन ह्येनन्नेदिष्टं पस्पृशुस्ते  
ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति ॥ २ ॥

ये तीनों देव-अग्नि, वायु और इन्द्रदेव अन्य देवों की अपेक्षा श्रेष्ठ माने जाते हैं; क्योंकि ब्रह्म को शक्ति के रूप में इन्हीं देवों ने सर्वप्रथम समझा और ब्रह्म का निकट से साक्षात्कार किया ॥ २ ॥

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्टं पस्पर्शं स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति ॥

निकट से ब्रह्म का स्पर्श करने से, सबसे पहले जान लेने से इन्द्रादि देवगण अन्य देवों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं ॥ ३ ॥

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीन्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम् ॥ ४ ॥

(इन्द्रदेव के सम्मुख यक्ष का अन्तर्धान हो जाना) ब्रह्म की उपस्थिति का संकेत बिजंली के चमकने और पलक के झपकने जैसा होता है। इसे उसका सूक्ष्म आधिदैविक संकेत समझना चाहिए ॥ ४ ॥

अथाध्यात्मं यदेतद्वच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्षणः संकल्पः ॥ ५ ॥

आध्यात्मिक दृष्टि से यह समझना चाहिए कि मन जो ब्रह्म के पास जाता हुआ सा प्रतीत होता है और ब्रह्म का स्मरण करता हुआ सा लगता है तथा ब्रह्म प्राप्ति का संकल्प करता हुआ सा भासित होता है। (यह भी ब्रह्म की उपस्थिति का सूक्ष्म संकेत है) ॥ ५ ॥

तद्व तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाऽभि हैनः सर्वाणि भूतानि  
संवाञ्छन्ति ॥ ६ ॥

समस्त प्राणी उस ब्रह्म से प्रेम करते हैं और उसे पाना चाहते हैं, वह तद्वन नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्म के इसी 'तद्वन' स्वरूप की सभी को उपासना करनी चाहिए। जो साधक ब्रह्म के इस स्वरूप को जान लेता है, उसे सब प्राणी अपना प्रिय मानने लगते हैं ॥ ६ ॥

[ऋषि ने ब्रह्म को 'तद्वन' कहा है। आचार्य शंकर ने इसका अर्थ तद्-भजनीयम् (वह ध्यान करने योग्य है) किया है। 'वन'- रस के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, इस आधार पर ब्रह्म मूल रूप से 'रस स्वरूप' है - ऐसा बोध होता है। ऋषि का मानना है कि जिस साधक की गति आत्म तत्त्व में हो जाती है, उसकी आत्मीयता का विस्तार इतना हो जाता है कि उसके प्रभाव में सभी प्राणी आ जाते हैं।]

उपनिषदं भो ब्रह्मीत्युक्ता य उपनिषद्ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥ ७ ॥

(ब्रह्म विद्या के इस सांकेतिक उपदेश को न समझ पाने के कारण पुनः शिष्य कहता है) हे गुरुदेव ! हमें ब्रह्मविद्या स्वरूप उपनिषद् का उपदेश दें। तब उन्होंने कहा कि अभी तक जो कुछ भी कहा गया है, वही ब्रह्मविद्या है, तुम्हें निश्चय ही मैंने ब्रह्मविद्या सिखा दी है ॥ ७ ॥

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥ ८ ॥

तपस्या, मन एवं इन्द्रियों का नियन्त्रण तथा आसक्ति रहित श्रेष्ठ कर्म-ये ही ब्रह्मविद्या प्राप्ति के आधार हैं। वेद में इस विद्या का सविस्तार वर्णन है। सत्यस्वरूप ब्रह्म ही इस विद्या का प्राप्य-लक्ष्य है ॥ ८ ॥

यो वा एतामेवं वेदापहत्यं पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥ ९ ॥

इस ब्रह्मविद्या के रहस्य को भली-भाँति जानने वाला साधक अपने समस्त पापसमूह को विनष्ट कर अविनाशी, असीम एवं सर्वश्रेष्ठ स्थिति में पहुँच जाता है - परमधाम को प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

॥ इति केनोपनिषत्समाप्ता ॥

## ॥ गायत्र्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध गोपथ ब्राह्मण की ३१ से ३८ तक की आठ कण्डिकाओं के संकलन रूप में है। इसमें मौद्गल्य और मैत्रेय ऋषियों के संवाद के माध्यम से गायत्री महाविद्या का विवेचन किया गया है। पहली दूसरी कण्डिका में भूमिका भाग तथा गायत्री मंत्र के सवितुः, वरेण्यं, भर्गः, देवस्य, धियः, प्रचोदयात् आदि शब्दों को परिभासित किया गया है। तीसरी कण्डिका में सविता और सावित्री की अभिन्नता तथा उनके विविध रूपों का वर्णन है। चौथी, पाँचवीं एवं छठवीं कण्डिकाओं में क्रमशः गायत्री महामन्त्र के तीनों चरणों की व्याख्या और उनके विस्तार का उल्लेख है। सातवीं -आठवीं कण्डिका में ब्रह्म, यज्ञ और ब्राह्मण की समस्वरता की व्याख्या की गई है।

### ॥ प्रथमा कण्डिका ॥

एतद्व स्मैतद्विद्वांसमेकादशाक्षमौद्गल्यं ग्लावो मैत्रेयोऽध्याजगाम स तस्मिन् ब्रह्मचर्यं  
वसतो विज्ञायोवाच किं स्विन्मर्या अयं तं मौद्गल्योऽध्येति यदस्मिन् ब्रह्मचर्ये वसतीति ॥

ग्यारह अक्षों (ज्ञान अथवा ज्ञानेन्द्रियों) वाले विद्वान् मौद्गल्य (मुदगल वंशीय) के पास ग्लाव मैत्रेय (मित्रयु के शिष्य अथवा गोत्र वाले) आये। वे मौद्गल्य के आश्रम में निवासरत ब्रह्मचारियों को देखकर उनसे (उपहास करते हुए) कहने लगे- यह मौद्गल्य अपने ब्रह्मचारियों को क्या पढ़ता है? ॥१॥

[‘ग्यारह अक्ष’ यह सम्बोधन उनके विशेष ज्ञाता होने का प्रमाण है। दस इन्द्रियों या दस प्राणों (५ प्राण+५ उपप्राणों) के अतिरिक्त जिनका आत्म तत्त्व भी जाग्रत् है, उन्हें ११ अक्षों-पहलुओं वाला कहा गया है।]

तद्वि मौद्गल्यस्यान्तेवासी शुश्राव सः आचार्यायाव्रज्याचच्छे दुरधीयानं वा अयं  
भवन्तमवोचद्योऽयमद्यातिथिर्भवति किं सौम्य विद्वानिति । त्रीन् वेदान् ब्रूते भोऽइति ॥ २ ॥

मौद्गल्य के ब्रह्मचारी ने यह बात सुनकर अपने आचार्य से जाकर कहा- जो आज यह अतिथि हैं, उन्होंने आपको अज्ञानी बताया है। मौद्गल्य ने पूछा- क्या वे विद्वान् हैं? शिष्य ने उत्तर दिया- हा देव! वे तीनों वेदों के उपदेशक हैं॥ २ ॥

तस्य सौम्य यो विस्पष्टो विजिगीषोऽन्तेवासी तन्मे ह्रयेति ॥ ३ ॥

हे सौम्य! उनका जो विद्वान्, तत्त्वदर्शी तथा विजयकांक्षी शिष्य है, उसे तुम मेरे पास ले आओ, मौद्गल्य ने अपने शिष्य से कहा॥ ३ ॥

तमाजुहाव तमभ्युवाचासाविति भोऽइति किं सौम्य त आचार्योऽध्येतीति, त्रीन्  
वेदान् ब्रूते भोऽइति ॥ ४ ॥

★ इस नाम की २ उपनिषदें उपलब्ध होती हैं। एक शतपथ ब्राह्मण (१४.५.१.१-८) के बृहदारण्यकोपनिषद् (५.१४.१-८) के अन्तर्गत आती है, दूसरी गोपथ ब्राह्मण (१.३१-३८) के अन्तर्गत। इस संग्रह में शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत वर्णित गायत्री उपनिषद् तो बृहदारण्यको० में उपलब्ध है ही। अस्तु उसकी पुनरावृत्ति समीचीन न मानकर गोपथ ब्राह्मण वाली उपनिषद् को ही चयनित किया गया है।

वह उसे बुला लाया और आचार्य से कहने लगा- गुरुवर! वह यह है। उन्होंने उनसे पूछा- हे सोम्य! तुम्हरे आचार्य तुम्हें क्या पढ़ाते हैं? शिष्य ने कहा- श्रीमन्! वे तीनों वेदों के उपदेशक हैं॥ ४॥

**यन्मुखलु सौम्यास्माभिः सर्वे वेदा मुखतो गृहीताः कथन्त एवमाचार्यो भाषते कथं नु शिष्टाः शिष्टेभ्य एवं भाषेरन् यं ह्येनमहं प्रश्नं प्रच्छामि न तं विवक्ष्यति न ह्येनमध्येतीति ॥**

हे सोम्य! क्योंकि हमने सब वेद मुखाग्र ग्रहण किये हैं, तुम्हरे आचार्य ऐसा क्यों कहते हैं कि मैं अज्ञानी हूँ। क्या उन्हें नहीं ज्ञात है कि शिष्ट लोग शिष्टों से कैसे वार्ता करते हैं? अब मैं जिस प्रश्न को पूछता हूँ यदि वे नहीं बताएँगे, तो इसका तात्पर्य होगा कि वे वेद नहीं पढ़ाते हैं॥ ५॥

**तां भवान् प्रब्रवीत्विति स चेत्सौम्य दुरधीयानो भविष्यत्याचार्योवाच ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणे सावित्रीं प्राहेति वक्ष्यति तत्त्वं ब्रूयात् दुरधीयानन्तं वै भवान् मौद्रगल्यमवोचत् स त्वा यं प्रश्नमप्राक्षीन्न तं व्यवोचः पुरा संवत्सरादार्त्तिमाकृष्यसीति ॥ ६॥**

हे सोम्य! यदि वे अज्ञानी होंगे, तो कहेंगे कि आचार्य अपने बालब्रह्मचारी और ब्रह्मचारियों को जिसका उद्बोधन देते हैं, वह सावित्री है। तुम कहना आपने उन मौद्रगल्य को अज्ञानी कहा था, वे आपसे एक प्रश्न पूछेंगे, यदि उसे आपने नहीं बताया, तो आपको एक वर्ष तक भारी पीड़ा सहनी होगी॥ ६॥

## ॥ द्वितीया कण्डिका ॥

**स ह मौद्रल्यः स्वमन्तेवासिनमुवाच, परेहि सौम्य ग्लावं मैत्रेयमुपसीदाधीहि भोः सावित्रीं गायत्रीञ्चतुर्विशतियोनिं द्वादशमिथुनां यस्या भृगवङ्ग्निरसश्चक्षुर्यस्यां सर्वमिदं श्रितम् ॥ १॥**

तदनन्तर मौद्रगल्य ऋषि ने अपने शिष्य से कहा- हे सोम्य! तुम ग्लाव मैत्रेय के पास जाओ और कहो- हे आचार्य! चौबीस सूक्ष्म केन्द्रों वाली, बारह जोड़ों वाली सावित्री-गायत्री के सम्बन्ध में बताएँ जिसके भृगु-आङ्गिरस (ज्ञान की विशिष्ट धाराएँ) नेत्र हैं, जिसमें यह सब आश्रित हैं, आप उस गायत्री का हमें उपदेश करें॥ १॥

**स तत्राजगाम यत्रेतरो बभूव, तं ह प्रप्रच्छ स ह न प्रतिपेदे, तं होवाच दुरधीयानन्तं वै भवान् मौद्रल्यमवोचत् स त्वा यं प्रश्नमप्राक्षीन्न तं व्यवोचः पुरासंवत्सरादार्त्तिमाकृष्यसीति ॥ २॥**

वह (मौद्रगल्य का शिष्य) वहाँ पहुँचा, जहाँ मैत्रेय का आश्रम था। उसने उनसे (मैत्रेय से) पूछा; किन्तु वे उस प्रश्न का उत्तर न दे सके। तदनन्तर उसने उनसे कहा- भगवन्! आपने मौद्रगल्य को अज्ञानी बताया था। उन्होंने आपसे प्रश्न पूछा और आप न बता सके, सो आपको एक वर्ष तक पीड़ा सहनी होगी॥ २॥

**स ह मैत्रेयः स्वानन्तेवासिन उवाच यथार्थं भवन्तो यथागृहं यथामनो विप्रसृज्यन्तां दुरधीयानं वा अहं मौद्रल्यमवोचं स मा यं प्रश्नमप्राक्षीन्न तं व्यवोचं तमुपैष्यामि शान्तिं करिष्यामीति ॥ ३॥**

उन मैत्रेय ऋषि ने अपने शिष्यों से यथार्थपूर्वक कहा- आप लोग अपने घर को इच्छानुसार प्रस्थान करें। मैंने मौद्रगल्य को अयोग्य बताया था, उन्होंने मुझसे जो प्रश्न पूछा है, वह मैं नहीं बता सका। अब मैं उनके पास जाऊँगा और उन्हें शान्ति (सन्तुष्टि) प्रदान करूँगा॥ ३॥

स ह मैत्रेयः प्रातः समित्पाणिमौद्गल्यमुपससादासावाग्रहं भो मैत्रेयः किमर्थमिति  
दुरधीयानं वा अहं भवन्तमवोचं त्वं मा यम्पश्चमप्राक्षीर्तं व्यवोचं त्वामुपेव्यामि शान्तिं  
करिष्यामीति ॥ ४ ॥

वे हाथ में समिधा लिये प्रातः काल ज्ञान के आग्रह के साथ मौद्गल्य के पास पहुँचे और बोले - हे आचार्य ! मैं मैत्रेय हूँ । मौद्गल्य ने पूछा - कैसे आगमन हुआ ? (मैत्रेय) मैंने आपको अयोग्य बताया था । आपने मुझसे जो प्रश्न पूछा था, वह मैं नहीं बता पाया । अब मैं आपके पास सेवा में उपस्थित होकर आपको सन्तुष्ट करूँगा ॥ ४ ॥

स होवाचात्र वा उपेतञ्च सर्वञ्च कृतं पापकेन त्वा यानेन चरन्तमाहूरथोऽयं मम  
कल्याणस्तंते ददामि तेन याहीति ॥ ५ ॥

मौद्गल्य ऋषि ने कहा - आप यहाँ आये हैं । लोग कहते हैं कि आप शुद्ध भाव से नहीं आये हैं; तो भी मैं आपको कल्याणकारी भावों का रथ देता हूँ, इसी से चलें ॥ ५ ॥

[ रथ का अर्थ होता है संवाहक (कैरिय) - जो लक्ष्य तक पहुँचाये । मनुष्य अपने भावों के अनुरूप ही जीवन की गति प्राप्त करता है । कल्याण चाहने वालों को कल्याणकारी भावों का ही आश्रय लेना होता है । ]

स होवाचैतदेवात्रात्विषञ्चानृशंस्यञ्च यथा भवानाहोपायामित्येवं भवन्तमिति तं  
होपेयाय तं होपेत्य पप्रच्छ किंस्विदाहुभोः सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवयः किमाहुर्धियो  
विचक्ष्व यदि ताः प्रवेक्ष्य प्रचोदयात्सविता याभिरेतीति ॥ ६ ॥

मैत्रेय ऋषि ने कहा - आपका वचन अभयकारी और सत्य है । जैसा आप कहते हैं, वैसा ही करने के लिए मैं आपके पास उपस्थित हूँ । वे मौद्गल्य ऋषि के पास विधिपूर्वक उपस्थित हुए और पास आकर पूछने लगे - हे आचार्य ! सविता का वरणीय तत्त्व क्या है ? उस देव का भर्ग क्या है ? इसका उत्तर क्रान्तदर्शी क्या बताते हैं ? धी संज्ञक तत्त्व की व्याख्या क्या करते हैं, जिन्हें प्रेरित करता हुआ वह देव द्युलोक में प्रविष्ट होकर विचरण करता है ? ॥ ६ ॥

तस्मा एतत् प्रोवाच वेदाश्छन्दांसि सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवयोऽन्नमाहुः ।  
कर्माणि धियस्तदु ते ब्रवीमि प्रचोदयात्सविता याभिरेतीति ॥ ७ ॥

उन मैत्रेय से मौद्गल्य ऋषि ने कहा - वैदिक छन्द सविता के वरणीय तत्त्व हैं । मेधावी पुरुष अन्न को ही उस देव का भर्ग बताते हैं । कर्म ही वह धी तत्त्व है, जिन्हें प्रेरित करता हुआ वह देव गमन करता है ॥ ७ ॥

[ सविता - सर्व प्रेरक है । छन्दों में जो उसके प्रेरक तत्त्व प्रकट हुए हैं, वे ही वरणीय हैं, अन्य अव्यक्त प्रवाह मनुष्य की ग्रहण शक्ति के परे होने से वरणीय नहीं हैं । धी बुद्धि को कहते हैं । सविता देव कर्म प्रेरक बुद्धि युक्त होकर विचरण करते हैं, ऐसा ऋषि का भाव प्रतीत होता है । ]

तमुपसंगृह्य पप्रच्छाधीहि भोः कः सविता का सावित्री ॥ ८ ॥

उसे सुनकर मैत्रेय ने मौद्गल्य से आदरपूर्वक पूछा - हे आचार्य ! हमें बताएँ, सविता क्या है और सावित्री क्या है ? ॥ ८ ॥

## ॥ तृतीया कण्ठिका ॥

**मन एव सविता, वाक् सावित्री, यत्र ह्येव मनस्तद् वाक्, यत्र वै वाक् तन्मन इत्येते  
द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥ १ ॥**

मौद्गल्य ऋषि ने कहा- मन ही सविता (प्रेरक तत्त्व) और वाणी सावित्री (प्रेरित तत्त्व) है। जहाँ पर मन है, वहाँ वाणी है, जहाँ वाणी है; वहाँ मन है। ये दो एक युग्म हैं, योनि (उत्पादक केन्द्र) रूप हैं ॥

**अग्निरेव सविता, पृथिवी सावित्री यत्र ह्येवाग्निस्तत्पृथिवी यत्र वे पृथिवी तदग्निरित्येते  
द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥ २ ॥**

अग्नि ही सविता है और पृथिवी सावित्री है। जहाँ पर अग्नि है, वहाँ पृथिवी है, जहाँ पृथिवी है; वहाँ अग्नि है। ये दो (अग्नि और पृथिवी) एक जोड़ा हैं, योनिरूप हैं ॥ २ ॥

**वायुरेव सविता अन्तरिक्षं सावित्री यत्र ह्येव वायुस्तदन्तरिक्षं, यत्र वा अन्तरिक्षं  
तद्वायुरित्येते द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥ ३ ॥**

वायु ही सविता है और अन्तरिक्ष सावित्री है। जहाँ पर वायु है, वहाँ अन्तरिक्ष है; जहाँ अन्तरिक्ष है, वहाँ वायु है। ये दो (वायु और अन्तरिक्ष) एक युग्म और उत्पादक केन्द्र हैं ॥ ३ ॥

**आदित्य एव सविता द्यौः सावित्री यत्र ह्येवादित्यस्तद्द्यौर्यत्र वै द्यौस्तदादित्य  
इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥ ४ ॥**

आदित्य ही सविता है और द्युलोक सावित्री है। जहाँ पर आदित्य है, वहाँ द्यौ है; जहाँ द्यौ है, वहाँ आदित्य है। ये दोनों (द्यौ और आदित्य) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं ॥ ४ ॥

**चन्द्रमा एव सविता, नक्षत्राणि सावित्री, यत्र ह्येव चन्द्रमास्तनक्षत्राणि यत्र वै  
नक्षत्राणि तच्चन्द्रमा, इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥ ५ ॥**

चन्द्रमा ही सविता है और नक्षत्र सावित्री है। जहाँ चन्द्रमा है, वहाँ नक्षत्र है तथा जहाँ नक्षत्र है, वहाँ चन्द्रमा है। ये दोनों (चन्द्रमा और नक्षत्र) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं ॥ ५ ॥

**अहरेव सविता, रात्रिः सावित्री, यत्र ह्येवाहस्तद्रात्रिर्यत्र वै रात्रिस्तदहरित्येते द्वे  
योनी एकं मिथुनम् ॥ ६ ॥**

दिन ही सविता है और रात्रि सावित्री है। जहाँ पर दिन है, वहाँ रात्रि है; जहाँ रात्रि है, वहाँ दिन है। ये दो (दिन और रात्रि) उत्पत्ति केन्द्र हैं, एक जोड़ा हैं ॥ ६ ॥

**उष्णमेव सविता, शीतं सावित्री, यत्र ह्येवोष्णं, तच्छीतं, यत्र वै शीतं तदुष्णमित्येते  
द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥ ७ ॥**

उष्णता ही सविता है और शीत सावित्री है। जहाँ उष्णता है, वहाँ शीत है; जहाँ शीत है, वहा॒  
उष्णता है। ये दोनों (उष्णता और शीत) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं ॥ ७ ॥

**अब्धमेव सविता वर्ष सावित्री यत्र ह्येवाब्धन्तद्वर्ष यत्र वै वर्षं तदब्धमित्येते द्वे योनी  
एकं मिथुनम् ॥ ८ ॥**

मेघ ही सविता है और वर्षण सावित्री है। जहाँ पर मेघ है, वहाँ वर्षण है; जहाँ वर्षण है, वहाँ मेघ है। ये दोनों (मेघ और वर्षण) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं ॥ ८ ॥

**विद्युदेव सविता स्तनयितुः सावित्री यत्र ह्येव विद्युत् तत् स्तनयितुः यत्र वै स्तनयितुस्तद्विद्युदित्येते द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥ ९ ॥**

विद्युत् ही सविता है और उसकी तड़क सावित्री है। जहाँ पर विद्युत् है, वहाँ तड़क है जहाँ पर तड़क है, वहाँ विद्युत् है। ये दोनों (विद्युत् और तड़क) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं ॥ ९ ॥

**प्राण एव सविता अन्नं सावित्री, यत्र ह्येव प्राणस्तदन्नं यत्र वा अन्नं तत् प्राण इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥ १० ॥**

प्राण सविता है और अन्न सावित्री है। जहाँ पर प्राण है, वहाँ अन्न है; जहाँ अन्न है, वहाँ प्राण है। ये दोनों (प्राण और अन्न) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं ॥ १० ॥

**वेदा एव सविता छन्दांसि सावित्री, यत्र ह्येव वेदास्तच्छन्दांसि यत्र वै च्छन्दांसि तद् वेदा इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥ ११ ॥**

वेद ही सविता है और छन्द सावित्री है। जहाँ वेद हैं, वहाँ छन्द हैं, जहाँ छन्द हैं, वहाँ वेद हैं। दोनों (वेद और छन्द) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं ॥ ११ ॥

**यज्ञ एव सविता दक्षिणा सावित्री, यत्र ह्येव यज्ञस्तत् दक्षिणा यत्र वै दक्षिणास्तद्यज्ञ इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥ १२ ॥**

यज्ञ ही सविता है और दक्षिणा सावित्री। जहाँ यज्ञ है, वहाँ दक्षिणा है और जहाँ दक्षिणा है, वहाँ यज्ञ है। ये दोनों (यज्ञ और दक्षिणा) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं ॥ १२ ॥

**एतद्व स्मैतद्विद्वांसमोपाकारिमासस्तुर्ब्रह्मचारी ते संस्थित इत्यथैत आसस्तुराचित इव चितो बभूवाथोत्थाय प्राग्राजीदित्येतद्वाऽहं वेद नैतासु योनिष्वित एतेभ्यो वा मिथुनेभ्यः सम्भूतो ब्रह्मचारी मम पुरायुषः प्रेयादिति ॥ १३ ॥**

(तदनन्तर ग्लाव मैत्रेय ने मौदगल्य से कहा) हे विद्वान् आचार्य! आपके द्वारा मैं उपकृत हुआ हूँ। यह ब्रह्मचारी आपकी सेवा में (दक्षिणा हेतु) उपस्थित है। यह ब्रह्मचारी आपके यहाँ आकर ज्ञान से परिपूर्ण हो गया है। ऐसा कहकर वे (मैत्रेय) वहाँ से उठकर ठहलते हुए बोले- अब मैं यह जान गया हूँ। इन जोड़ों तथा उत्पत्ति केन्द्रों से जुड़ा मेरा ब्रह्मचारी अल्पायु नहीं होगा ॥ १३ ॥

## ॥ चतुर्थी कण्डिका ॥

**ब्रह्म हेदं श्रियं प्रतिष्ठामायतनमैक्षत तत्पस्व यदि तद् व्रते ध्रियेत तत्सत्ये प्रत्यतिष्ठत् ॥ १ ॥**

मौदगल्य ने मैत्रेय से कहा- यह ब्रह्म ही श्रीरूप, प्रतिष्ठा रूप और आश्रयरूप है, इसलिए आप तप करें। यदि तपः-व्रत को धारण किया जाए, तो सत्य में प्रतिष्ठा होती है ॥ १ ॥

स सविता सावित्र्या ब्राह्मणं सृष्टा तत् सावित्रीं पर्यदधात् तत् सवितुवरीण्यमिति  
सावित्र्या: प्रथमः पादः ॥ २ ॥

उन देव सविता ने सावित्री के साथ ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञान सम्पन्न) को उत्पन्न कर उसे सावित्री (मन्त्र) को धारण कराया- तत्सवितुवरीण्य- यह सावित्री का पहला चरण है ॥ २ ॥

पृथिव्यर्च्च समदधादृचाऽग्निमग्निना श्रियं श्रिया स्त्रिया मिथुनं मिथुनेन प्रजां  
प्रजया कर्म कर्मणा तपस्तपसा सत्यं सत्येन ब्रह्म ब्रह्मणा ब्राह्मणं ब्राह्मणेन व्रतं व्रतेन वै  
ब्राह्मणः संशितो भवत्यविच्छिन्नः ॥ ३ ॥

(देव सविता ने) पृथकी के साथ ऋक् को संयुक्त किया । ऋक् से अग्नि को, अग्नि से श्री को, श्री से स्त्री को, स्त्री से जोड़े को, जोड़े के साथ प्रजा को, प्रजा से कर्म को, कर्म से तप को, तप से सत्य को सत्य से ब्रह्म (वेदज्ञान) को, ब्रह्म (वेदज्ञान) से ब्राह्मण को, ब्राह्मण से व्रत को संयुक्त किया । व्रत से ही वह ब्राह्मण तेजस्वी होता है, परिपूर्ण होता है और अविच्छिन्न होता है ॥ ३ ॥

भवत्यविच्छिन्नोऽस्य तन्तुरविच्छिन्नं जीवनं भवनं भवति य एवं वेद यश्वैवं  
विद्वानेवमेतं सावित्र्या: प्रथमं पादं व्याचष्टे ॥ ४ ॥

जो विद्वान् इस प्रकार सावित्री के प्रथम चरण (वरण करने योग्य) को जानता है और जानकर इस प्रकार व्याख्या करता है, उसका वंश और उसका जीवन अविच्छिन्न होता है ॥ ४ ॥

## ॥ पञ्चमी कण्ठिका ॥

भर्गो देवस्य धीमहीति सावित्र्या द्वितीयः पादोऽन्तरिक्षेण यजुः समदधात् यजुषा  
वायुं, वायुनाऽब्ध्रमब्ध्रेण वर्ष, वर्षेणौषधिवनस्पतीनोषधि वनस्पतिभिः पशून् पशुभिः  
कर्म कर्मणा तपस्तपसा सत्यं, सत्येन ब्रह्म, ब्रह्मणा ब्राह्मणं, ब्राह्मणेन व्रतं व्रतेन वै  
ब्राह्मणः संशितो भवत्यशून्यो भवत्यविच्छिन्नः ॥ १ ॥

'भर्गो देवस्य धीमहि' - यह सावित्री का द्वितीय चरण है । देव सविता ने अन्तरिक्ष के साथ यजुष् को संयुक्त किया । यजुष् के साथ वायु को, वायु के साथ मेघ को, मेघ के साथ वर्षा को, वर्षा के साथ ओषधियों एवं वनस्पतियों को, ओषधियों एवं वनस्पतियों के साथ पशुओं को, पशुओं के साथ कर्म को, कर्म के साथ तप को, तप के साथ सत्य को, सत्य के साथ ब्रह्म (वेदज्ञान) को, ब्रह्म (वेदज्ञान) से ब्राह्मण को, ब्राह्मण से व्रत को संयुक्त किया । व्रत से ही ब्राह्मण तेजस्वी, परिपूर्ण और अविच्छिन्न होता है ॥ १ ॥

भवत्यविच्छिन्नोऽस्य तन्तुरविच्छिन्नं जीवनं भवति य एवं वेद यश्वैवं विद्वानेवमेतं  
सावित्र्या द्वितीयं पादं व्याचष्टे ॥ २ ॥

जो विद्वान् इस प्रकार सावित्री के द्वितीय चरण (धारण किये जाने वाले भर्ग तत्त्व) को जानता है और इस प्रकार व्याख्या करता है, उसका वंश और उसका जीवन अविच्छिन्न होता है ॥ २ ॥

## ॥ षष्ठी कण्डका ॥

धियो यो नः प्रचोदयादिति सावित्र्यास्तृतीयः पादो दिवा साम समदधात्सा-  
प्राऽऽदित्यमादित्येनरश्मीन् रश्मिभिर्वर्षं, वर्षेणौषधिवनस्पती-नोषिधिवनस्पतिभिः  
पशून् पशुभिः कर्म कर्मणा तपस्तपसा सत्यं सत्येन ब्रह्म, ब्रह्मणा ब्राह्मणेन व्रतं  
व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितो भवत्यशून्याभवत्यविच्छिन्नः ॥ १ ॥

‘धियो यो नः प्रचोदयात्’ - यह सावित्री का तृतीय चरण है। उन देव सविता ने द्युलोक के साथ साम को संयुक्त किया। साम के साथ आदित्य को, आदित्य के साथ रश्मियों को, रश्मियों के साथ वर्षा को, वर्षा के साथ ओषधियों एवं वनस्पतियों को, ओषधियों एवं वनस्पतियों के साथ पशुओं को, पशुओं के साथ कर्म को, कर्म के साथ तप को, तप के साथ सत्य को, सत्य के साथ ब्रह्म को, ब्रह्म के साथ ब्राह्मण को, ब्राह्मण के साथ व्रत को संयुक्त किया। व्रत से ही ब्राह्मण तेजस्वी, परिपूर्ण और अविच्छिन्न होता है ॥ १ ॥

भवत्यविच्छिन्नोऽस्य तन्तुरविच्छिन्नं जीवनं भवति य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेतं  
सावित्र्यास्तृतीयं पादं व्याचष्टे ॥ २ ॥

जो विद्वान् इस प्रकार सावित्री के तृतीय चरण (प्रेरणा प्रदायक) को जानता है और उसे जानकर उसकी व्याख्या करता है, उसका वंश और उसका जीवन अविच्छिन्न रहता है ॥ २ ॥

## ॥ सप्तमी कण्डका ॥

तेन ह वा एवं विदुषा ब्राह्मणेन ब्रह्माभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टम् ॥ १ ॥

उस विद्वान् (सावित्री के तीनों चरणों के जानकार) ब्राह्मण द्वारा वह ब्राह्मी (शक्ति) प्राप्त, ग्रसित (धारित) तथा परामृष्ट (सम्बद्ध-अनुभूति पूर्वक प्रयुक्त) होती है ॥ १ ॥

ब्रह्मणाऽकाशमभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टमाकाशेन वायुरभिपन्नो ग्रसितः परामृष्टो  
वायुना ज्योतिरभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टं ज्योतिषाऽपोऽभिपन्ना ग्रसिताः परामृष्टा  
अद्विर्भूमिरभिपन्ना ग्रसिता परामृष्टा भूम्याऽन्नमभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टमन्नेन प्राणोऽभिपन्नो  
ग्रसितः परामृष्टः प्राणेन मनोऽभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टं मनसा वागभिपन्ना ग्रसिता परामृष्टा  
वाचा वेदा अभिपन्ना ग्रसिताः परामृष्टा वेदैर्यज्ञोऽभिपन्नो ग्रसितः परामृष्टस्तानि ह वा  
एतानि द्वादशमहाभूतान्येवं विधिप्रतिष्ठितानि तेषां यज्ञ एव पराद्वर्यः ॥ २ ॥

ब्रह्म के साथ आकाश प्राप्त, ग्रसित एवं परामृष्ट (सम्बद्ध) है। आकाश के साथ वायु प्राप्त, ग्रसित एवं परामृष्ट (सम्बद्ध) है। वायु के साथ ज्योति प्राप्त, ग्रसित और परामृष्ट (सम्बद्ध) है, ज्योति के साथ जल प्राप्त, ग्रसित और परामृष्ट है। जल के साथ पृथ्वी प्राप्त, ग्रसित और परामृष्ट है। पृथ्वी के साथ अन्न प्राप्त, ग्रसित एवं परामृष्ट है। अन्न के साथ प्राण प्राप्त, ग्रसित एवं परामृष्ट है। प्राण के साथ मन प्राप्त, ग्रसित एवं

परामृष्ट है। मन के साथ वाणी प्राप्त, ग्रसित एवं परामृष्ट है। वाणी के साथ वेद प्राप्त, ग्रसित एवं परामृष्ट है। वेदों के साथ यज्ञ प्राप्त, ग्रसित एवं परामृष्ट है। इस प्रकार जानने वाले विद्वान् में से बारह महाभूत प्रतिष्ठित होते हैं। उनमें यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ है॥ २॥

## ॥ अष्टमी कण्डका ॥

तं ह स्मैतमेवं विद्वांसो मन्यन्ते विद्वन्मिति यथातथ्यमविद्वांसोऽयं यज्ञो वेदेषु प्रतिष्ठितो वेदा वाचि प्रतिष्ठिता वाङ् मनसि प्रतिष्ठिता मनः प्राणे प्रतिष्ठितं प्राणोऽन्ने प्रतिष्ठितो ऽन्नं भूमौ प्रतिष्ठितं भूमिरप्सु प्रतिष्ठिता आपो ज्योतिषि प्रतिष्ठिता ज्योतिर्वायौ प्रतिष्ठितं वायुराकाशे प्रतिष्ठित आकाशं ब्रह्मणि प्रतिष्ठितं ब्रह्म ब्राह्मणे ब्रह्मविदि प्रतिष्ठितं यो ह वा एवं वित् स ब्रह्मवित् पुण्यां च कीर्ति लभते सुरभींश्च गन्धान् सोऽपहतपाप्मानन्तांश्रियमश्रुते य एवं वेद, यश्वैवं विद्वानेवमेतां वेदानां मातरं सावित्रीसम्पदमुपनिषदमुपास्त इति ब्राह्मणम्॥ १॥

जो विद्वान् यह मानते हैं कि हम यज्ञ जानते हैं- यथार्थ में वे अज्ञानी हैं। यह यज्ञ वेदों में प्रतिष्ठित है। वेद वाणी में प्रतिष्ठित है। वाणी मन में प्रतिष्ठित है। मन प्राण में प्रतिष्ठित है। प्राण अन्न में प्रतिष्ठित है। अन्न भूमि में प्रतिष्ठित है। भूमि जल में प्रतिष्ठित है। जल तेज (अग्नि) में प्रतिष्ठित है। तेज वायु में प्रतिष्ठित है। वायु आकाश में प्रतिष्ठित है। आकाश ब्रह्म में प्रतिष्ठित है। ब्रह्म ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार (बारहों महाभूतों की गति को) जानने वाला ब्रह्मज्ञानी पुरुष पुण्य एवं कीर्ति को प्राप्त करता है, सुरभित गन्धादि युक्त जीवन प्राप्त करता है। वह पापों से मुक्त होकर विराट् ऐश्वर्य को ग्रहण करता है॥ १॥

## ॥ इति गायत्री उपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ छान्दोग्योपनिषद् ॥

सामवेद की तलवकार शाखा के अन्तर्गत छान्दोग्य ब्राह्मण के अंश को इस उपनिषद् के रूप में मान्यता दी गई है। उक्त ब्राह्मण में १० अध्याय हैं। उसके अन्तिम ८ (आठ) अध्याय उपनिषद् रूप में लिये गये हैं। यह विशाल कलेवर वाले उपनिषदों में से एक है।

नाम के अनुरूप इस उपनिषद् का आधार 'छन्दः' है। 'छन्दः' यहाँ साहित्यिक पद्य रचना के प्रकार तक ही सीमित नहीं है, उसका व्यापक अर्थ है। 'छन्दः' का अर्थ है-आच्छादित करने वाला। कवि जिस सत्य का साक्षात्कार करता है, वह सत्य, वह भाव हृदयंगम करने के लिए वह साहित्यिक छन्द का प्रयोग करता है। वह सत्य या भाव जिन अक्षरों, पदों, स्वरों आदि से आच्छादित होता है, वे सब उस साहित्यिक छन्द के अंगोपांग होते हैं। इसी प्रकार ऋषि इस सृष्टि के मूल सत्य को विभिन्न माध्यमों से व्यक्त होते, प्रकृति के विभिन्न घटकों से आच्छादित हुआ देखता है। अस्तु, उन सबको उन्होंने छन्द या साम या उद्गीथ के रूप में व्यक्त किया है।

प्रथम अध्याय में ऋचा, साम आदि के सार रूप ॐकार की व्याख्या की गयी है। देवासुर संग्राम के उपाख्यान से ॐकार-उद्गीथ को केवल स्वर-श्वास आदि तक ही सीमित न रखकर उसे मुख्य प्राणों के स्पन्दन से जोड़ने का रहस्य समझाया है। फिर ॐकार की आध्यात्मिक, आधिदैविक उपासनाएँ समझाते हुए विभिन्न स्वरूप स्पष्ट किये गये हैं। दूसरे अध्याय में 'साम' को साधुता-श्रेष्ठता से जोड़ते हुए विभिन्न प्रकार की उपासनाओं का वर्णन किया गया है। तीसरे अध्याय में आदित्य को देवों का मधु कहकर उसकी विभिन्न दिशाओं से विभिन्न प्रकार के अमृतों की उपलब्धि का वर्णन है। इस मधुविद्या के अधिकारियों का उल्लेख करते हुए गायत्री की सर्वरूपता सिद्ध करके आदित्य की ब्रह्मरूप में उपासना का निर्देश दिया गया है। चौथे अध्याय में सत्यकाम जाबाल का वृषभ, अग्नि, हंस एवं मुदग द्वारा ब्रह्म बोध कराये जाने का तथा उपकौशल को विभिन्न अग्नियों द्वारा शिक्षित किए जाने का उपाख्यान है। पाँचवाँ अध्याय प्राण विद्या परक है। श्वेतकेतु एवं प्रवाहण संवाद में अप्तत्त्व का पाँचवीं आहुति में व्यक्तिवाचक बन जाने तथा अश्वपति एवं ऋषियों के संवाद से प्राण की विभिन्न प्रकृतियों का उल्लेख है। छठवें अध्याय में ईश्वर एवं आत्मा के विभिन्न स्वरूपों को विभिन्न दृष्टान्तों से स्पष्ट किया गया है। सातवें अध्याय में ब्रह्म की विभिन्न रूपों में उपासना समझायी गई है। आठवें अध्याय में इन्द्र एवं विरोचन के कथानक द्वारा आत्मतत्त्व और ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिए तप द्वारा पात्रता अर्जित करने का महत्त्व दर्शाया गया है। अन्त में आत्मज्ञान की परम्परा एवं उसके फल का वर्णन है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु..... इति शान्तिः (द्रष्टव्य- केनोपनिषद्)

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत, ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥ १ ॥  
'ॐ' इस अक्षर का यज्ञ में उद्गाता द्वारा सर्वप्रथम उच्चारण किया जाता है। ॐ का उच्चारण करके उद्गाता सामगान करता है। उसी उद्गीथ साधना की यहाँ व्याख्या की जाती है ॥ १ ॥

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो  
रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम उद्गीथो रसः ॥ २ ॥

सम्पूर्ण प्राणियों अथवा पदार्थों का रस (सार) पृथ्वी का रस (सारभाग) जल है, जल का रस ओषधियाँ हैं, ओषधियों का रस पुरुष है। पुरुष का रस वाक् है। वाणी का रस साम है। साम का रस उद्गीथ ॐकार है ॥ २ ॥

**स एष रसानां रसतमः परमः पराध्योऽष्टमो य उद्गीथः ॥ ३ ॥**

यह ॐकार सभी रसों में सर्वोत्तम रस है। यह परमात्मा का प्रतीक होने के कारण उपास्य है। यह पृथिवी आदि रसों में आठवाँ है ॥ ३ ॥

[ रसों में आठवाँ होने का अपना महत्त्व है। यह सृष्टि सात-सात के वर्गों में विभक्त है, समलोक, समराग, सातरंग, समव्याहृतियाँ आदि। आठवाँ पिछले सप्तमक का समापक तथा नये सप्तमक का प्रारंभक होता है। ३० में सभी रस समाहित भी होते हैं तथा उसी से सब प्रकट भी होते हैं, गूढ़ार्थ में आठवाँ कहने का यही भाव प्रतीत होता है। ]

**कतमा कतमर्क्षतमत्कतमत्साम कतमः कतम उद्गीथ इति विमृष्टं भवति ॥ ४ ॥**

अब यह विचार किया जाता है कि कौन-कौन सा ऋक् है, कौन सा साम है और कौन सा उद्गीथ है ॥

**वागेवर्कं प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथस्तद्वा एतन्मिथुनं यद्वाकूचं प्राणश्वर्कूचं सामं च ॥**

वाक् ही ऋक् है, प्राण ही साम है और ॐकार ही उद्गीथ है। जो ऋक् रूप वाणी और सामरूप प्राण है, ये (मिथुन) जोड़े प्रसिद्ध हैं ॥ ५ ॥

[ प्राण ही साम है। सामगान केवल वाणी की कलाकारिता नहीं है, उसमें वाणी के साथ प्राण का स्पन्दन भी जुड़ा होना चाहिए। यदि प्राण में अन्तः सूकृत तरंगें नहीं उठतीं, तो साम गान नहीं बन पाता। सामान्य गायन की प्रभावोत्पादकता में भी यही तथ्य कार्य करता है। ]

**तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे सःसृज्यते यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम् ॥ ६ ॥**

जिस प्रकार मिथुन (स्त्री-पुरुष) का मिलन एक दूसरे की कामनाओं की पूर्ति करता है, उसी प्रकार इस (वाणी और प्राण अथवा ऋचा और साम के) जोड़े के संयोग से ॐकार का संसृजन होता है ॥ ६ ॥

**आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ७ ॥**

जो विद्वान् उद्गीथ रूप ॐकार की उपासना करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओं की प्राप्ति करने वाला होता है ॥

**तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्ब्दि किंचानुजानात्योमित्येव तदाह एषा एव समृद्धिर्यदनुज्ञा समर्थयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ८ ॥**

यह ॐकार अनुमति सूचक है। जब कोई किसी को अनुमति देता है, तो ॐकार कहकर उसे प्रकट करता है। यह अनुमति ही समृद्धिप्रद है। यह जानने वाला जो विद्वान् ॐकार की उपासना करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति करने वाला होता है ॥ ८ ॥

[ यह सृष्टि ब्रह्म के संकल्प से बनी है। सृष्टि उत्पादन के पीछे उसकी अनुमति, सृष्टि सृजन की सम्पति ही मूल कारण है। जिस ऋद्धि-सिद्धि या साधन के लिए ब्रह्म की अनुमति हो जाती है, वही तत्त्व अस्तित्व में आ जाता है। अस्तु, ब्रह्म की अनुमति ही समृद्धि है, ऋषि का यह कथन बहुत मर्युक्त है। ]

**तेनेयं त्रयी विद्या वर्तत ओमित्याश्रावयत्योमिति शःसत्योमित्युद्गायत्ये- तस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिमा रसेन ॥ ९ ॥**

ॐ अक्षर से ही त्रयी (वेदत्रयी अथवा त्रिगुणात्मिका सृष्टि की) विद्या (यज्ञादि या सृष्टि सृजन) कर्म में प्रवृत्त होती है। ॐ कहकर ही अर्धवर्यु आश्रावण (आदेश) कर्म करता है। ॐ कहकर ही होता शंसन

(पाठ या स्तुति) करता है और उद्गाता सामग्रान आरम्भ करता है। इसी ॐकार अक्षर रूप ब्रह्म की महिमा और रस(हव्य) से सभी यज्ञादि कर्म उसी अक्षर (ब्रह्म) की अर्चना के लिए सम्पन्न किये जाते हैं॥

**तेनोभौ कुरुतो यश्वैतदेवं वेद यश्व न वेद । नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति ॥ १० ॥**

जो उस (अक्षर ब्रह्म) को जानता है और जो नहीं जानता, वे दोनों ही उसी के माध्यम से कर्म करते हैं। विद्या और अविद्या (युक्तकर्म) के भिन्न-भिन्न फल हैं। जो कर्म विद्या, श्रद्धा और उपासना से युक्त होकर किया जाता है, वही अधिक शक्तिशाली होता है। यह उस अक्षर ब्रह्म की ही व्याख्या है॥ १० ॥

## ॥ द्वितीयः खण्डः ॥

**देवासुरा ह वै यत्र संयेतिर उभये प्राजापत्यास्तद्व देवा उद्गीथमाजहुरनेनैना-नभिभविष्याम इति ॥ १ ॥**

प्रजापति की दोनों सन्तानें-देवगण और असुरगण परस्पर युद्ध करने लगे, तो देवों ने विचार किया कि हम उद्गीथ की उपासना करके असुरों का पराभव करेंगे॥ १ ॥

[ परमात्मा को प्रजा-सृष्टि का जनक तथा स्वामी-पति कहा गया है। उसी से देव-असुर, पदार्थ-प्रति पदार्थ (मैटर-एन्टी मैटर) सर्जक और मारक प्रवाह सत्प्रवृत्ति-दुष्प्रवृत्ति आदि की उत्पत्ति हुई, वही उसका स्वामी है। यदि ये एक हो जायें, तो पुनः वह निश्चेष्ट सृष्टि के पूर्व की स्थिति बन जायें। इसीलिए वे दोनों पक्ष अपने - अपने निर्धारित पुरुषार्थ में प्रवृत्त रहते हैं। मनुष्य अपने संकल्प से किसी भी प्रवाह को फलित कर सकता है। आसुरी प्रभाव से बचने के लिए उद्गीथ साधना का विधान बतलाया गया है। ]

**ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे । तःहासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धः ॥ २ ॥**

उन्होंने (देवों ने) नासिका स्थित प्राण के रूप में उद्गीथ की उपासना की, किन्तु असुरों ने उस प्राण को अपने पाप से भ्रष्ट कर दिया। पाप से बींधने के कारण ही वह (प्राण) सुगन्ध एवं दुर्गन्ध दोनों को ग्रहण करता है॥ २ ॥

**अथ ह वाचमुद्गीथमुपासांचक्रिरे । तद्वासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तयोभयं वदति सत्यं चानृतं च पाप्मना ह्येषा विद्धा ॥ ३ ॥**

फिर देवों ने वाणी के रूप में उद्गीथ (ॐकार) की उपासना की; किन्तु असुरों ने अपने पाप से वाणी को भ्रष्ट कर दिया। पाप से बींधे जाने के कारण वाणी सत्य और झूठ दोनों बोलने लगी॥ ३ ॥

**अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासांचक्रिरे । तद्वासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ४ ॥**

फिर देवों ने चक्षु रूप ॐकार की उपासना की; किन्तु असुरों ने अपने पाप से उसे भी भ्रष्ट कर दिया। पाप से बींधे जाने के कारण नेत्र देखने योग्य और न देखने योग्य दोनों को देखता है॥ ४ ॥

**अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासांचक्रिरे । तद्वासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं शृणोति श्रवणीयं चाश्रवणीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ५ ॥**

फिर देवों ने श्रोत्ररूप ॐकार की उपासना की, तब असुरों ने अपने पाप से उसे भ्रष्ट कर दिया, पाप से बींधे जाने के कारण श्रोत्र सुनने योग्य और न सुनने योग्य सभी बातों को सुनता है॥ ५ ॥

अथ ह मन उद्गीथमुपासांचक्रिरे। तद्वासुराः पाप्मना विविधस्तस्मात्तेनोभयः संकल्पयते संकल्पनीयं चासंकल्पनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्वद्भम्॥ ६॥

फिर देवों ने मन के रूप में ॐकार की उपासना की, तब असुरों ने अपने पाप से उसे भी छोड़ कर दिया, पाप से बोधे जाने के कारण मन विचारने योग्य और न विचारने योग्य सभी बातों पर विचार करने लगा ॥ ६॥

[ यहाँ ऋषि ने यह स्पष्ट किया है कि इन्द्रियों से सम्बद्ध प्राणों से भी उद्गीथ साधना की जा सकती है, किन्तु थोड़ा भी चूकने पर आसुरी प्रवाह उनमें विकार-विक्षेप डाल सकते हैं। आगं समझाया है कि मुख्य प्राण से उद्गीथ साधना करने पर आसुरी प्रपञ्च असफल हो जाते हैं। ]

अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तःहासुरा ऋत्वा विदध्वःसुर्यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वःसेत ॥ ७॥

फिर देवों ने मुख्य प्राण के रूप में उद्गीथ ( ॐकार ) की उपासना की, असुरों ने उसे भी पाप युक्त करना चाहा, पर उसके निकट जाकर वे ऐसे ध्वस्त हुए, जैसे कठोर चट्ठान से टकराकर मिट्टी का ढेला चूर-चूर हो जाता है ॥ ७॥

एवं यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वःसत एवः हैव स विध्वःसते य एवंविदि पापं कामयते यश्वैनमभिदासति स एषोऽश्माखणः ॥ ८॥

जिस प्रकार अभेद्य चट्ठान से टकराकर मिट्टी का ढेला विदीर्ण हो जाता है, उसी प्रकार वह व्यक्ति विनष्ट हो जाता है, जो उद्गीथ ( ॐकार ) के इस रहस्य को जानने वाले के प्रति पापयुक्त आचरण अथवा दुर्व्यवहार करता है; क्योंकि वह मुख्य प्राण का उपासक अभेद्य चट्ठान की तरह दृढ़ होता है ॥ ८॥

नैवैतेन सुरभिं न दुर्गन्धिं विजानात्यपहतपाप्मा ह्येष तेन यदश्राति यत्पिबति तेनेतरान् प्राणानवति । एतमु एवान्ततोऽवित्त्वोत्क्रामति व्याददात्येवान्तत इति ॥ ९॥

इस मुख्य प्राण के द्वारा मनुष्य सुगन्ध या दुर्गन्ध का अनुभव नहीं करता, क्योंकि वह पाप से संयुक्त नहीं है। मनुष्य जो कुछ खाता-पीता है, उसके द्वारा वह समस्त इन्द्रियों के प्राणों को पोषण प्रदान करता है। अन्तकाल में वह प्राण द्वारा अन्त ग्रहण नहीं करता, तो समस्त इन्द्रियों के प्राणों का उत्क्रमण हो जाता है और मुख फटा रह जाता है ॥ ९॥

[ शरीरस्थ मुख्य प्राण जब उद्गीथ ( उच्च श्रेष्ठ भाव ॐकार ) साधना में प्रवृत्त होता है, तो वह आहार को पचाते समय उसके भी उच्च संस्कार को जगा देता है। आहार के माध्यम से इन्द्रिय स्थित प्राणों के पोषण के क्रम में वही उच्च संस्कार उन्हें विकारों के आक्रमण से बचा लेता है। आगे मुख्य प्राण की व्याख्या की गई है । ]

तःहाङ्गिरा उद्गीथमुपासांचक्र एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः ॥ १०॥

अङ्गिरा ऋषि ने पहले मुख्य प्राण के रूप में ॐकार की ही उपासना की थी। अतः प्राण को “आङ्गिरस” भी कहा गया है, क्योंकि यह सम्पूर्ण अङ्गों का रस अथवा आधार है ॥ १०॥

तेन तःह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासांचक्र एतमु एव बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्धि बृहती तस्या एष पतिः ॥ ११॥

इसी प्रकार बृहस्पति देव ने भी उस मुख्य प्राण के रूप में ॐकार की उपासना की, अतः प्राण को बृहस्पति भी कहा गया; क्योंकि वाक् को बृहती कहा गया है और उसके पति ( स्वामी ) होने से प्राण को बृहस्पति माना गया है ॥ ११॥

तेन तःहायास्य उद्गीथमुपासांचक्र एतमु एवायास्यं मन्यन्त आस्याद्यदयते ॥ १२ ॥

आयास्य ऋषि ने भी प्राण के रूप में ही उद्गीथ की उपासना की थी, अतः मनुष्य इस प्राण को ही आयास्य मानते हैं, क्योंकि यह प्राण आस्य अर्थात् मुख से निष्क्रमण करता है ॥ १२ ॥

तेन तःह बको दालभ्यो विदंचकार । स ह नैमिशीयानामुद्गाता बभूव स ह स्मैभ्यः  
कामानागायति ॥ १३ ॥

दल्भ ऋषि के पुत्र बक नामक ऋषि ने प्राण के रूप में उद्गीथ अर्थात् ॐकार की उपासना की । वे ऋषि नैमिषारण्य में यज्ञ करने वाले ऋषियों के उद्गाता हुए। उन्होंने ऋषियों की कामनाओं की पूर्ति के लिए उद्गान किया ॥ १३ ॥

[ जिसने उद्गीथ साधना की है, ऐसे साधक यज्ञादि कार्यों के समक्ष उनके संकल्प के अनुरूप अपने प्राणों को तरंगित करके उसी भाव से पूरे वातावरण को भर देने में समर्थ होते थे । ]

आगाता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्त इत्यध्यात्मम् ॥ १४ ॥

इस प्रकार इस तथ्य को जानने वाला जो विद्वान् इस अक्षर ब्रह्म ॐकार की उपासना करता है, वह कामनाओं की पूर्ति करने वाला होता है। यह (शरीर की) आध्यात्मिक उपासना का वर्णन है ॥ १४ ॥

## ॥ तृतीयः खण्डः ॥

अथाधिदैवतं य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासांतोद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति  
उद्यःस्तमो भयमपहन्त्यपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद ॥ १ ॥

अब आधिदैविक उपासना का वर्णन करते हैं - तपःशील आदित्य के रूप में उद्गीथ की उपासना करनी चाहिए। यह उदित होकर मनुष्यों के लिए उद्गान अर्थात् प्राणों का संचार करता है। उदित होकर यह अज्ञानरूपी अन्धकार और उससे उत्पन्न होने वाले भय का नाश करता है। जो इस प्रकार जानता है, वह तमस् और सर्वविध भय का नाश करने वाला होता है ॥ १ ॥

[ ईश्वर ने आदित्य को जो प्राण सम्पदा दी है, उसे वह उत्कृष्ट प्रयोजनों के लिए ही प्रकट करता है। उसे आदर्श मानकर अपने प्राणों के गति देने वाला साधक उक्त सिद्धि प्राप्त करता है । ]

समान उ एवायं चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर  
इत्यमुं तस्माद्वा एतमिमममुं चोद्गीथमुपासीत ॥ २ ॥

यह प्राण और वह सूर्य दोनों ही समान हैं। यह प्राण उष्ण है और वह सूर्य भी उष्ण है। इस प्राण को स्वर कहते हैं और उस सूर्य को भी स्वर एवं (अस्तकाल में) प्रत्यास्वर कहते हैं। अतः इस प्राण और उस सूर्य रूप में उद्गीथ (ओंकार) की उपासना करनी चाहिए ॥ २ ॥

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानोऽथ  
यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः सा वाक् तस्मादप्राणन्नपानन्वाच-  
मभिव्याहरति ॥ ३ ॥

व्यान नामक शरीरस्थ प्राण के रूप में उद्गीथ की उपासना करनी चाहिए। मनुष्य श्वास के द्वारा जो भीतर की वायु बाहर निकालता है, वह प्राण है; और बाहर की वायु जो अन्दर खींचता है, वह अपान है। जो प्राण और अपान की सन्धि है, वह व्यान है। व्यान ही वाणी है। इसीलिए जब मनुष्य बोलता है, तब वह प्राण तथा अपान की क्रिया नहीं करता है ॥ ३ ॥

यह अक्षर, अमृत और अभय रूप ब्रह्म का ही प्रतीक है। देवगण इस अक्षर ब्रह्म ॐकार में प्रविष्ट होकर अमरत्व और अभय को प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥

[ देवगण जब तक नश्वर इन्द्रियादि के रसों में अपना अस्तित्व देखते हैं, तब तक वेदोक्त अनुशासन का पालन करने पर भी मृत्यु भय से मुक्त नहीं होते। जब ॐकार रूप ब्रह्म के सर्वोत्तम रस के आनन्द में प्रवेश करते हैं, तो अमर हो जाते हैं । ]

**स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षरः स्वरममृतमभयं प्रविशति तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति ॥ ५ ॥**

जो ज्ञानी इस अक्षर ब्रह्म ॐ को इस प्रकार जानकर उपासना करता है, वह अमृत और अभयरूप स्वर ब्रह्म ॐ में ही प्रविष्ट करता है। जिस प्रकार इसमें प्रविष्ट होकर देवगण अमरत्व भाव को प्राप्त हुए, उसी प्रकार वह भी अमरत्व को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

### ॥ पञ्चमः खण्डः ॥

**अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति होष स्वरन्नेति ॥ १ ॥**

यथार्थ में यह जो उद्गीथ है, वही प्रणव ॐ है और जो प्रणव है, वही उद्गीथ है। यह जो सूर्य है, वही उद्गीथ है, वही प्रणव है, क्योंकि यह गमन करते हुए ॐ का ही उच्चारण करता रहता है ॥ १ ॥

[ अपने पूरे सौर मण्डल को लिए सूर्य भी गतिशील है, यह तथ्य वर्तमान विज्ञान स्वीकार करता है। सूर्य के द्वारा प्राणों के संचार को उद्गीथ ( छान्दो.१.३.१ में ) पहले ही कहा जा चुका है । ]

**एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच रश्मीःस्त्वं पर्यावर्तयाद्बहवो वै ते भविष्यन्तीत्यधिदैवतम् ॥ २ ॥**

कौषीतकि ऋषि ने अपने पुत्र से कहा- मैंने विशेषतः इसी आदित्य को लक्ष्य कर ॐकार का गान किया था, इसी से तू मेरा एक पुत्र है। अब तू यदि सूर्य से विकेन्द्रित होती सूर्य की रश्मियों का ध्यान कर, तो निश्चय ही तुम्हें बहुत से पुत्रों की प्राप्ति होगी। यह आधिदैविक उपासना का वर्णन है ॥ २ ॥

[ साधक के संकल्प के अनुरूप प्राण शक्ति का नियोजन होता है। उसी के अनुसार एक या बहुत से पुत्र प्राप्त होने की बात कही गयी है । ]

**अथाध्यात्मं य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासीतोमिति होष स्वरन्नेति ॥ ३ ॥**

अब आध्यात्मिक उपासना का वर्णन है। यह जो मुख्य प्राण है, उसी के रूप में उद्गीथ की उपासना करनी चाहिए, क्योंकि यह गमन करते हुए सर्वदा ॐकार स्वर का ही उच्चारण करता रहता है ॥ ३ ॥

**एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच प्राणाःस्त्वं भूमानमभिगायताद्बहवो वै मे भविष्यन्तीति ॥ ४ ॥**

कौषीतकि ऋषि ने अपने पुत्र से कहा- मैंने विशेषतः इसी मुख्य प्राण को लक्ष्यकर ॐकार का गान किया था; अतः तू मेरा एक पुत्र हुआ। अब तू मुख्य प्राण के गुणभेद से विशिष्ट प्राणों का चिन्तन कर, तो निश्चय ही तुम्हारे बहुत से पुत्र होंगे ॥ ४ ॥

**अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति होतृष्ठदनाद्वैवापि दुरुद्गीतमनुसमाहरतीत्यनु समाहरतीति ॥ ५ ॥**

यथार्थ में जो उद्गीथ है, वही प्रणव (ॐ) है। जो प्रणव है, वही उद्गीथ है। इस रहस्य को जानने वाला होता के आसन से उद्गाता से हुए दोष युक्त उद्गान को ॐ उच्चारण करके संशोधन कर लेता है ॥५॥

[ यदि उद्गाता के गान में यज्ञ के उद्देश्य के अनुरूप भावों का स्पंदन न होने पाये, तो होता ॐकार के उद्गान से - मुख्य प्राण को तरंगित करके उस कमी की पूर्ति कर सकता है । ]

## ॥ षष्ठः खण्डः ॥

**इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढः साम तस्मादृच्यध्यूढः साम गीयते इयमेव साग्निरमस्तत्साम ॥ १ ॥**

यह पृथ्वी ही ऋक् है और अग्नि साम है। वह अग्नि रूप साम, पृथिवी रूप ऋक् में प्रतिष्ठित है। अतः ऋचा में अधिष्ठित साम का गायन किया जाता है। पृथिवी को 'सा' और अग्नि को 'अम' मानकर दोनों को मिलाने से साम बनता है ॥ १ ॥

[ साम अर्थात् उद्गीथ को प्राण का संचरण कहा गया है। पृथ्वी तत्त्व (काष्ठ आदि) जब प्राण संचरित करते हैं, तो अग्नि का स्वरूप बनता है। इसी प्रकार आगे अन्तरिक्ष का प्राण संचरण वायु तथा आकाश द्वारा प्राण संचरण से आदित्य का स्वरूप बनना मान्य है । ]

**अन्तरिक्षमेवर्गवायुः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढः साम । तस्मादृच्यध्यूढः साम गीयते अन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम ॥ २ ॥**

अन्तरिक्ष ही ऋक् है और वायु साम है। वह वायु रूप साम अन्तरिक्ष रूप ऋक् में प्रतिष्ठित है। अतः ऋचा में अधिष्ठित साम का गायन किया जाता है। अन्तरिक्ष को 'सा' और वायु को 'अम' मानकर दोनों को मिलाने से 'साम' बनता है ॥ २ ॥

**द्यौरेवर्गादित्यः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढः साम । तस्मादृच्यध्यूढः साम गीयते द्यौरेव सादित्योऽमस्तत्साम ॥ ३ ॥**

आकाश ही ऋक् है और आदित्य साम है; वह आदित्य रूप साम ही रूप ऋक् में प्रतिष्ठित है, अतः ऋचा में अधिष्ठित साम का ही गायन किया जाता है। आकाश को 'सा' और आदित्य को 'अम' मानकर दोनों को मिलाने से साम बनता है ॥ ३ ॥

**नक्षत्राणयेवकं चन्द्रमाः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढः साम । तस्मादृच्यध्यूढः साम गीयते । नक्षत्राणयेव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम ॥ ४ ॥**

नक्षत्र ही ऋक् है और चन्द्रमा साम है। वह चन्द्रमा रूप साम नक्षत्र रूप ऋक् में प्रतिष्ठित है, अतः ऋचा में अधिष्ठित साम का ही गायन किया जाता है। नक्षत्र को 'सा' और चन्द्रमा को 'अम' मानकर दोनों को मिलाने से साम बनता है ॥ ४ ॥

**अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्या-मृच्यध्यूढः साम तस्मादृच्यध्यूढः साम गीयते ॥ ५ ॥**

यह जो आदित्य का श्वेत प्रकाश है, वही ऋक् है और जो नीलवर्ण मिश्रित कृष्ण प्रकाश है, वह साम है। वह नीलवर्ण रूप साम इस श्वेत ज्योति रूप ऋक् में अधिष्ठित है, अतः ऋचा में अधिष्ठित साम का ही गायन किया जाता है ॥ ५ ॥

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भा: सैव साथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्सामाथ य  
एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुहिरण्यकेशा आप्रणखात्सर्वं एव  
सुवर्णः ॥ ६ ॥

यह आदित्य का श्वेत प्रकाश 'सा' है, नीलवर्ण मिश्रित कृष्ण प्रकाश 'अम' है। इन दोनों को मिलाने से साम बनता है। इस आदित्य के मध्य में एक स्वर्णिम पुरुष दिखाई देते हैं, जो स्वर्ण सदृश दाढ़ी-मूँछ वाले तथा स्वर्णिम केशों वाले हैं, जो नख से लेकर शिखा पर्यन्त सम्पूर्ण रूप से स्वर्णमय हैं ॥ ६ ॥

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य  
उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद ॥ ७ ॥

उस स्वर्णिम पुरुष के दोनों नेत्र बन्दर के बैठने के स्थान के सदृश अथवा कमल पुष्प के सदृश अरुणिम हैं। उनका नाम 'उत्' है, क्योंकि वह पापों से ऊपर उठे हैं। जो इस प्रकार जानते हैं, वह निश्चय ही पापों से ऊपर उठ जाते हैं ॥ ७ ॥

तस्यकृच साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्ग्रातैतस्य हि गाता स एष ये  
चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्याधिदैवतम् ॥ ८ ॥

ऋग्वेद और सामवेद उसी पुरुष का वर्णन करते हैं। इसीलिए वह परमात्मा उद्गीथ है और उस 'उत्' का गान करने वाला उद्गाता कहलाता है। वह परम पुरुष 'उत्' आदित्य से ऊँचे लोकों और देवों का भी नियामक है और देवों की कामनाओं का पूरक है। यह उद्गीथ की आधिदैविक उपासना का स्वरूप है ॥ ८ ॥

## ॥ सप्तमः खण्डः ॥

अथाध्यात्मं वागेवर्कं प्राणः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढः साम तस्मादृच्यध्यूढः साम  
गीयते वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम ॥ १ ॥

अब आध्यात्मिक उपासना का वर्णन किया जाता है। वाणी ही ऋक् है और प्राण साम है। इस प्रकार वाणी रूप ऋक् में प्राण रूप साम अधिष्ठित है। अतः ऋक् में अधिष्ठित साम का ही गायन किया जाता है। वाणी को 'सा' और प्राण को 'अम' मानकर इन्हें मिलाने से साम बनता है ॥ १ ॥

चक्षुरेवर्गात्मा साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढः साम तस्मादृच्यध्यूढः साम गीयते चक्षुरेव  
सात्मा ऽमस्तत्साम ॥ २ ॥

चक्षु ही ऋक् है और आत्मा साम है। इस प्रकार चक्षुरूप ऋक् में आत्मारूप साम अधिष्ठित है। अतः ऋक् में अधिष्ठित साम का ही गायन किया जाता है। चक्षु को 'सा' और आत्मा को 'अम' मानकर इन्हें मिलाने से साम बनता है ॥ २ ॥

श्रोत्रमेवर्डमनः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढः साम तस्मादृच्यध्यूढः साम गीयते  
श्रोत्रमेव सा मनोऽमस्तत्साम ॥ ३ ॥

श्रोत्र ही ऋक् है और मन साम है। इस प्रकार श्रोत्र रूप ऋक् में मनरूप साम अधिष्ठित है। अतः ऋक् में अधिष्ठित साम का ही गायन किया जाता है। श्रोत्र को 'सा' और मन को 'अम' मानकर उन्हें मिलाने से साम बनता है ॥ ३ ॥

अथ यदेतदक्षणः शुक्लं भाः सैवर्गथं यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्या-  
मृच्यध्यूढः साम तस्मादृच्यध्यूढः साम गीयते । अथ यदेवैतदक्षणः शुक्लं भाः सैव साथ  
यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम ॥ ४ ॥

यह जो नेत्रों में श्वेत आभा है, वह ऋक् है और जो नील वर्ण युक्त श्याम आभा है, वह साम है । इस प्रकार (श्वेत आभारूप) ऋक् में (नीलयुक्त श्याम आभारूप) साम अधिष्ठित है, अतः ऋक् में अधिष्ठित साम का ही गायन किया जाता है । नेत्रों की श्वेत आभा को 'सा' और श्याम आभा को 'अम' मानकर इन्हें मिलाने से साम बनता है ॥ ४ ॥

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवकर्त्तत्साम तदुकथं तद्यजुस्तद्ब्रह्म तस्यैतस्य  
तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम ॥ ५ ॥

यह नेत्रों के मध्य जो पुरुष दिखाई देता है, वही ऋक् है, वही साम है, वही उक्थ है, वही यजुष् और वही ब्रह्म है । उस पुरुष का वही रूप है, जो आदित्य के मध्य स्थित पुरुष है । उसके जो गुण हैं, वही इसके गुण हैं । उसका जो नाम 'उत्' है, वही इसका भी नाम है ॥ ५ ॥

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्छो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां चेति तद्य इमे वीणायां  
गायन्त्येतं ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः ॥ ६ ॥

वही परम पुरुष पृथिवी से नीचे सभी लोकों पर आधिपत्य रखता है, वही मनुष्य की कामनाओं को भी अपने अधीन रखता है । जो लोग वीणा पर गायन करते हैं, वे उसी पुरुष का गायन करते हैं । इसी से वे धन-सम्पत्ति होते हैं ॥ ६ ॥

अथ य एतदेवं विद्वान्साम गायत्युभौ स गायति सोऽमुनैव स एष ये चामुष्मात्पराञ्छो  
लोकास्ताःश्चाप्नोति देवकामास्ताःश्च ॥ ७ ॥

जो विद्वान् इस रहस्य को जानकर सामगान करता है, वह चक्षु के अन्तर्गत और आदित्य के अन्तर्गत अवस्थित दोनों पुरुषों का गायन करता है । इसके द्वारा वह आदित्य के ऊपर के लोकों और देवों के भोगों को प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

अथानेनैव ये चैतस्मादर्वाञ्छो लोकास्ताःश्चाप्नोति मनुष्यकामाःश्च तस्मादु हैवंविदुद्गाता  
ब्रूयात् ॥ ८ ॥

इसी के द्वारा वह उद्गाता इस लोक से नीचे के लोकों तथा मनुष्य के समस्त भोगों को प्राप्त करता है । अतः इस प्रकार जानने वाला उद्गाता यजमान से कहता है ॥ ८ ॥

कं ते काममागायानीत्येष ह्येव कामगानस्येष्टे य एवं विद्वान्साम गायति साम गायति ॥

'मैं आपके लिए किन अभीष्ट कामनाओं का गान के द्वारा आवाहन करूँ।' जो इस रहस्य को इस प्रकार जानकर सामगान करता है, वह अभीष्ट भोगों का गान के द्वारा आवाहन करने में समर्थ हो जाता है ॥ ९ ॥

॥ अष्टमः खण्डः ॥

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवः शिलकः शालावत्यश्वैकितायनो दात्म्यः प्रवाहणो  
जैवलिरिति ते होचुरुद्गीथे वै कुशलाः स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति ॥ १ ॥

तीन ऋषि उद्गीथ सम्बन्धी विद्या में पारङ्गत थे। एक शालावान् के पुत्र शिलक, द्वितीय चिकितायन के पुत्र दाल्भ्य और तृतीय जीवल के पुत्र प्रवाहण। उन्होंने एक दिन परस्पर कहा- हम लोग उद्गीथ विद्या में पारङ्गत हैं, अतः क्यों न इस विषय पर वार्तालाप करें॥१॥

**तथेति ह समुपविविशुः स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच भगवन्तावग्रे वदतां ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचः श्रोष्यामीति ॥ २ ॥**

'हाँ, ऐसा ही करें, कहकर तीनों उत्तम स्थान पर बैठ गये। तब प्रवाहण जैवलि ऋषि ने कहा- पहले आप दोनों चर्चा करें, मैं आप ब्राह्मणों की कही बातों का श्रवण करूँगा॥२॥

**स ह शिलकः शालावत्यश्वैकितायनं दाल्भ्यमुवाच हन्त त्वा पृच्छानीति पृच्छेति होवाच ॥ ३ ॥**

तब शिलक शालावत्य दैकितायन से कहा- यदि आज्ञा हो, तो मैं प्रश्न करूँ। दाल्भ्य ने कहा- करो॥

**का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाच स्वरस्य का गतिरिति प्राण इति होवाच प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति होवाचान्नस्य का गतिरित्याप इति होवाच ॥ ४ ॥**

'साम की गति (आश्रय) क्या है?' शिलक ने पूछा। दाल्भ्य ने उत्तर दिया 'स्वर'। फिर प्रश्न पूछा- स्वर की गति क्या है? दाल्भ्य ने कहा 'प्राण'। फिर प्रश्न पूछा- प्राण की गति क्या है? उन्होंने उत्तर दिया- 'अन्न'। फिर प्रश्न पूछा- अन्न की गति क्या है? उन्होंने उत्तर दिया- जल॥४॥

**अपां का गतिरित्यसौ लोक इति होवाचामुष्य लोकस्य का गतिरिति न स्वर्ग लोकमतिनयेदिति होवाच स्वर्ग वयं लोकः सामाभिसंस्थापयामः स्वर्गसःस्तावः हि सामेति ॥ ५ ॥**

जल की गति क्या है? ऐसा प्रश्न पूछने पर उत्तर दिया- वह लोक (स्वर्ग)। इस पर शिलक ने पूछा- उस लोक की गति क्या है? इस पर दाल्भ्य ने कहा- स्वर्ग लोक का अतिक्रमण करके साम को दूसरे आश्रय में नहीं रख सकते। हम साम को पूर्णतया स्वर्ग में स्थित मानते हैं और उसकी स्वर्ग रूप में ही स्तुति की गयी है॥५॥

**तः ह शिलकः शालावत्यश्वैकितायनं दाल्भ्यमुवाचाप्रतिष्ठितं वै किल ते दाल्भ्य साम यस्त्वेतहि ब्रूयामूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति ॥ ६ ॥**

तब दाल्भ्य चैकितायन से शिलक शालावत्य ने कहा- यह साम निश्चय ही अप्रतिष्ठित है; परन्तु यदि कोई उद्गाता यह कह दे कि तुम्हारा मस्तक पृथ्वी पर गिर जाये, तो निश्चय ही मस्तक पृथ्वी पर गिर जायेगा॥६॥

**हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाचामुष्य लोकस्य का गतिरित्यं लोक इति होवाचास्य लोकस्य का गतिरिति न प्रतिष्ठां लोकमतिनयेदिति होवाच प्रतिष्ठां वयं लोकः सामाभिसःस्थापयामः प्रतिष्ठासःस्तावः हि सामेति ॥ ७ ॥**

दाल्भ्य ने कहा- श्रीमन्! मैं साम की स्थिति आपसे जानना चाहता हूँ। शिलक ने कहा- अच्छा, जानो। दाल्भ्य ने प्रश्न पूछा- स्वर्ग लोक का आश्रय क्या है? उनने कहा- यह लोक। फिर प्रश्न पूछा- इस लोक की गति क्या है? शिलक ने कहा- सबके आश्रयभूत इस लोक का अतिक्रमण करके साम को अन्य आश्रय में नहीं ले जाना चाहिए। हम इस लोक में साम को प्रतिष्ठित करके ही उसकी स्तुति करते हैं॥७॥

तः ह प्रवाहणो जैवलिरुवाचान्तवद्वै किल ते शालावत्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते  
विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति हन्ताहमेतद्गवतो वेदानीति विद्धीति होवाच ॥ ८ ॥

तंब प्रवाहण जैवलि ने कहा- हे शालावत्य ! आपके द्वारा वर्णित यह साम तर्क द्वारा समाप्त हो जाने वाला है। यदि कोई उद्गाता यह कहे कि आपका मस्तक गिर जाये, तो यह मस्तक गिर जाएगा। फिर शिलक ने कहा- श्रीमन् ! मैं साम की स्थिति आपसे जानना चाहता हूँ। इस पर प्रवाहण ने कहा- अच्छा, जानो ॥ ८ ॥

## ॥ नवमः खण्डः ॥

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव  
समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्यैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम् ॥ १ ॥

शिलक ने पूछा- इस लोक का आश्रय क्या है ? प्रवाहण ने उत्तर दिया- आकाश, क्योंकि सम्पूर्ण प्राणी तथा तत्त्व इसी आकाश से उत्पन्न होते हैं और इसी में प्रलय को प्राप्त होते हैं, आकाश ही सबसे बड़ा है, अतः आकाश ही इस लोक का भी आश्रय है ॥ १ ॥

स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह  
लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान्परोवरीयाऽसमुद्गीथमुपास्ते ॥ २ ॥

वही श्रेष्ठ से अतिश्रेष्ठ उद्गीथ है, वह अनन्त रूप है। जो विद्वान् उसे इस प्रकार जानता है, इससे वह परम उत्कृष्ट उद्गीथ की उपासना करता है। इससे वह परम उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त होता है और क्रमशः उच्चतर लोकों को प्राप्त होता जाता है ॥ २ ॥

तः हैतमतिथन्वा शौनक उदरशाणिडल्यायोक्त्वोवाच यावत्त एनं प्रजायामुद्गीथं  
वेदिष्यन्ते परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मिँल्लोके जीवनं भविष्यति ॥ ३ ॥

अतिथन्वा शौनक ने इस उद्गीथ उपासना के तत्त्व को उदरशाणिडल्य से व्यक्त किया। जब तक आपकी प्रजा इस उद्गीथ (प्राणों को ऊपर श्रेष्ठता की ओर तरंगित करने की विधा) को जानती रहेगी, तब तक उसका जीवन इस लोक में उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर होता जायेगा ॥ ३ ॥

तथामुष्मिँल्लोके लोक इति स य एतमेवं विद्वानुपास्ते परोवरीय एव हास्यास्मिँल्लोके  
जीवनं भवति तथामुष्मिँल्लोके लोक इति लोके लोक इति ॥ ४ ॥

परलोक में भी वह श्रेष्ठतर होता जायेगा। इस प्रकार जो विद्वान् उद्गीथ के इस रहस्य को समझकर उपासना करता है, उसका जीवन इस लोक में श्रेष्ठतर होता जाता है तथा परलोक में भी उसे श्रेष्ठतर स्थान प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

## ॥ दशमः खण्डः ॥

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास ॥ १ ॥

एक समय ओलों की वृष्टि के कारण कुरुदेश की खेती विनष्ट हो गयी। उस समय इभ्य ग्राम में चक्र ऋषि के पुत्र उषस्ति अपनी अल्पवयस्का पत्नी के साथ बड़ी दीन अवस्था में रहने लगे थे ॥ १ ॥

स हेभ्यं कुल्माषान्वादनं बिभिक्षे तःहोवाच। नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम  
उपनिहिता इति ॥ २ ॥

एक दिन उषस्ति ऋषि ने अत्यन्त घुने उड़द खाने वाले एक महावत से भिक्षा माँगी। तब उसने कहा-

इन जूठे उड़द के सिवाय मेरे पास और कोई अन्न नहीं है, बस इसी पात्र में उड़द रखे हैं ॥ २ ॥  
एतेषां मे देहीति होवाच तानस्मै प्रददौ हन्तानुपानमित्युच्छिष्टं वै मे पीतःस्यादिति  
होवाच ॥ ३ ॥

उषस्ति ऋषि ने कहा- इन्हीं में से मुझे दे दो। तब महावत ने उड़द देते हुए कहा- इन्हें खाकर आप  
जल भी पी लें। उषस्ति ऋषि ने कहा- इस जल को पीने से मुझे जूठा जल पीने का दोष लग जाएगा ॥ ३ ॥

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा अजीविष्यमिमा न खादन्निति होवाच कामो म  
उदपानमिति ॥ ४ ॥

महावत ने पूछा- क्या ये उड़द जूठे नहीं हैं? उषस्ति ऋषि ने उत्तर दिया- इन्हें खाये बिना मैं जीवित  
नहीं रह सकता था, परन्तु जल तो मुझे कहीं भी मिल सकता है ॥ ४ ॥

स ह खादित्वातिशेषाञ्चायाया आजहार साग्र एव सुभिक्षा बभूव तान्प्रतिगृह्य निदध्यौ ॥ ५ ॥

उषस्ति ऋषि ने उनमें से एक भाग खाकर दूसरा भाग ले जाकर अपनी पत्नी को दिया, वह पहले ही  
बहुत सी भिक्षा प्राप्त कर चुकी थी, सो उसने उस उड़द को लेकर रख दिया ॥ ५ ॥

स ह प्रातः संजिहान उवाच यद् बतान्नस्य लभेमहि लभेमहि धनमात्राः राजासौ  
यक्ष्यते स मा सर्वेर्त्तिष्यैर्वृणीतेति ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् प्रातः काल शश्या त्यागने के बाद उषस्ति ऋषि ने अपनी पत्नी से कहा- मुझे कहीं से थोड़ा  
अन्न प्राप्त हो जाता, तो उसे खाकर मैं निर्वाह के लिए धन प्राप्त कर लेता। यहाँ समीपस्थ राजा यज्ञ करने  
वाले हैं, वे मुझे सम्पूर्ण ऋत्विक् कर्मों के लिए वरण कर लेंगे ॥ ६ ॥

तं जायोवाच हन्त पत इम एव कुल्माषा इति तान्खादित्वामुं यज्ञं विततमेयाय ॥ ७ ॥

उषस्ति ऋषि की पत्नी ने उनसे कहा- हे स्वामिन्! ये आपके दिये हुए उड़द रखे हैं, इन्हें आप खा  
लें। उषस्ति ऋषि उन्हें खाकर उस विशाल यज्ञ में गये ॥ ७ ॥

तत्रोद्गातृनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश स ह प्रस्तोतारमुवाच ॥ ८ ॥

वहाँ वे स्तोताओं के स्थान पर जाकर उनके समीप बैठ गये और प्रस्तोता से बोले- ॥ ८ ॥

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥ ९ ॥

हे प्रस्तोतः! जिस देवता के प्रति स्तुति करते हो, यदि उसे बिना जाने आप स्तुति करेंगे, तो आपका  
मस्तक गिर जाएगा ॥ ९ ॥

एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते  
विपतिष्यतीति ॥ १० ॥

इसी प्रकार वे उद्गाता के पास जाकर बोले- हे उद्गातः! जिस देवता के प्रति उद्गीथ गान करते हैं,  
उसे बिना जाने यदि उद्गाता करेंगे, तो आपका मस्तक गिर जायेगा ॥ १० ॥

एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रति-  
हरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ते ह समारतास्तूष्णीमासांचक्रिरे ॥ ११ ॥

इसी प्रकार उन्होंने प्रतिहर्ता के पास जाकर कहा हे प्रतिहर्तः! जिस देवता के प्रति आप  
प्रतिहरण करते हैं, उसे बिना जाने यदि प्रतिहरण करेंगे, तो आपका मस्तक गिर जाएगा। यह

सुनकर प्रस्तोता, उद्गाता आदि अपने-अपने कर्मों से विरत होकर बैठ गये ॥ ११ ॥

[ यदि कोई व्यक्ति केवल रटे हुए ज्ञान के आधार पर श्रेय पाने का प्रयास करते थे, तो तत्त्वज्ञ ऋषि इस प्रकार की 'आन' ( शर्त ) रखकर उनकी गहराई की परीक्षा लेते थे । वे भी तत्त्वज्ञ के आगे अपनी सीमा स्वीकार कर लेते थे । ]

## ॥ एकादशः खण्डः ॥

अथ हैनं यजमान उवाच भगवन्तं वा अहं विविदिषाणीत्युषस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच ॥ १ ॥

तब उषस्ति ऋषि से यजमान राजा ने कहा- मैं आप पूज्य को जानना चाहता हूँ । इस पर उषस्ति ऋषि कहने लगे- मैं चक्र का पुत्र उषस्ति हूँ ॥ १ ॥

**स होवाच भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वैरार्त्तिव्यैः पर्यैषिषं भगवतो वा अहमवित्त्वा-न्यानवृष्टिः ॥**

तब राजा ने कहा- मैंने इन सब ऋत्विक् कर्मों के लिए आपको खोजा था, परन्तु आपके न मिलने पर ही मैं इन ऋत्विजों का वरण कर चुका हूँ ॥ २ ॥

**भगवाः स्त्वेव मे सर्वैरार्त्तिव्यैरिति तथेत्यथ तर्हेत एव समतिसृष्टाः स्तुवतां यावत्त्वेभ्यो धनं दद्यास्तावन्मम दद्या इति तथेति ह यजमान उवाच ॥ ३ ॥**

अब आप ही हमारे सम्पूर्ण यज्ञ कर्मों को सम्पन्न कराएँ । उषस्ति ऋषि ने कहा- ऐसा ही हो । अब मैं इन्हीं प्रस्तोता, उद्गाता आदि को प्रसन्नता पूर्वक स्तुति करने की आज्ञा देता हूँ और आप जितना धन इन्हें दें, उतना ही मुझे दे देना । तब राजा ने कहा वैसा ही हो ॥ ३ ॥

**अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ४ ॥**

तब प्रस्तोता उषस्ति ऋषि के समीप आकर कहने लगे- हे भगवन् ! आपने मुझसे कहा था कि हे प्रस्तोतः ! आप जिस देवता की स्तुति करते हैं, उसे बिना जाने यदि स्तुति करेंगे, तो आपका मस्तक गिर जाएगा । अब आप बताएँ कि वह देवता कौन सा है ? ॥ ४ ॥

**प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युजिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रास्तोष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्थोक्तस्य मयेति ॥ ५ ॥**

तब उषस्ति ऋषि कहने लगे कि वह देवता प्राण है । प्रलय काल में सभी प्राणी प्राण में ही प्रवेश कर जाते हैं और उत्पत्ति के समय ये प्राण से ही उत्पन्न हो जाते हैं । यह प्राण ही स्तुत्य देव है । यदि आप उसे बिना जाने स्तुति करते, तो मेरे वचन के अनुसार आपका सिर निश्चय ही गिर जाता ॥ ५ ॥

**अथ हैनमुद्गातोपससादोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ६ ॥**

तदनन्तर उनके पास उद्गाता आकर कहने लगे- हे भगवन् ! आपने मुझसे कहा था कि हे उद्गातः ! आप जिस देवता की स्तुति करते हैं, उसे बिना जाने यदि स्तुति करेंगे, तो आपका मस्तक गिर जाएगा । अब आप बताएँ कि वह देवता कौन सा है ? ॥ ६ ॥

आदित्य इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति सैषा देवतोदीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुदगास्यो मूर्धा ते व्यपतिष्ठ्यत्थोक्तस्य मयेति ॥ ७ ॥

तब उषस्ति ऋषि ने उत्तर दिया- वह देवता आदित्य है; क्योंकि ये सम्पूर्ण प्राणी उदीयमान सूर्य का ही गान करते हैं। यही देव उद्गीथ से सम्बन्धित है। यदि आप उसे बिना जाने स्तुति करते, तो मेरे वचन के अनुसार आपका सिर निश्चय ही गिर जाता ॥ ७ ॥

अथ हैनं प्रतिहर्तोपसाद प्रतिहर्त्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रति- हरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्ठ्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ८ ॥

उसके बाद प्रतिहर्ता उनके पास आये और कहने लगे- हे भगवन्! आपने मुझसे कहा था कि हे प्रतिहर्ता! आप जिस देवता का प्रतिहरण करते हैं, उसे बिना जाने यदि प्रतिहरण करेंगे, तो आपका सिर गिर जायेगा। अब आप बताएँ कि वह देवता कौन सा है? ॥ ८ ॥

अन्नमिति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति सैषा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रत्यहरिष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्ठ्यत्थोक्तस्य मयेति तथोक्तस्य मयेति ॥ ९ ॥

इस पर उन्होंने कहा- वह देवता अन्न है, क्योंकि सम्पूर्ण प्राणी अन्न को ग्रहण करते हुए ही जीते हैं। अन्न देवता ही इस प्रतिहरण से सम्बन्धित हैं। यदि उसे आप बिना जाने ही प्रतिहरण करते, तो मेरे वचन के अनुसार आपका मस्तक गिर जाता ॥ ९ ॥

## ॥ द्वादशः खण्डः ॥

इस खण्ड में शौक उद्गीथ का वर्णन है। कोश ग्रन्थों के अनुसार 'शौक' शब्द 'शौवन' का संक्षिप्त रूप है। शौवन का अर्थ होता है श्वान से सम्बन्धित। यह आलंकारिक उपाख्यान है। 'श्वान' शब्द शुन् धातु से बना है; शुन्-गतौ के अनुसार श्वान का अर्थ गतिशील होता है। यहाँ 'शौक' का अर्थ प्राण से सम्बन्धित मानने से ही उपाख्यान का भाव स्पष्ट होता है। वर्णित कथानुसार ऋषि पुत्र स्वाध्याय के लिए प्राकृतिक स्थल पर गये हैं। वहाँ श्वेत (निर्मल-निर्दोष) श्वान (प्राण प्रवाह) का उन्हें साक्षात्कार होता है। अन्य श्वान (इन्द्रियादि के विकारों से ग्रस्त प्राण) अपनी भूख का हवाला देकर उनसे अन्न के लिए उद्गीथ का गान करने को कहते हैं। पूर्व खण्डों में कहा जा चुका है; शुद्ध प्राण की ही उद्गीथ साधना फलित होती है। वे प्रकृति में संव्यास प्राण समूह शुद्ध प्राण के नेतृत्व में उद्गीथ का गान करते हैं। इस प्रसंग में यहाँ वर्णित उपाख्यान का भाव सिद्ध होता है-

**अथातः शौक उद्गीथस्तद्व बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्वाज ॥ १ ॥**

अब शौक (प्राणों से सम्बन्धित) उद्गीथ का वर्णन करते हैं। बक दाल्भ्य अथवा ग्लाव मैत्रेय स्वाध्याय के लिए जलाशय के समीप गये ॥ १ ॥

**तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्बभूव तमन्ये श्वान उपसमेत्योचुरन्नं नो भगवानागायत्वशनायाम वा इति ॥ २ ॥**

उनके समीप श्वेत (निर्मल-निर्विकार) श्वान (प्राण की इकाई) का प्राकट्य हुआ। उसके पास कुछ अन्य श्वान (विकारग्रस्त प्राण समूह) आकर कहने लगे; आप हमारे निमित्त अन्न प्राप्ति के लिए उद्गीथ का गान करें, हम सब भूखे हैं ॥ २ ॥

तान्होवाचेहैव मा प्रातरुपसमीयातेति तद्व बको दालभ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः  
प्रतिपालयांचकार ॥ ३ ॥

उस श्वेत श्वान ने उन सबसे कहा- 'तुम कल प्रातःकाल मेरे पास आना।' तब कौतूहल पूर्वक बक दालभ्य और ग्लाव मैत्रेय भी प्रातःकाल की प्रतीक्षा करते रहे ॥ ३ ॥

ते ह यथैवेदं बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणाः सर्वव्याः सर्वन्तीत्येव माससृपुस्ते ह  
समुपविश्य हिंचक्रुः ॥ ४ ॥

प्रातःकाल वे सब श्वान (प्राण) मिलकर उसी प्रकार भ्रमण करने लगे, जैसे बहिष्पवमान स्तोत्र से स्तुति करने वाले उद्गाता परस्पर मिलकर भ्रमण करते हैं। तदनन्तर वे वहाँ बैठकर हिंकार करने लगे ॥ ४ ॥

[ बहिष्पवमान स्तोत्र का गान प्रातः सवन में वेदिका से हटकर, एक साथ गतिशील रहकर किया जाता है। उसका उद्देश्य श्रेष्ठ हव्यान्न की प्राप्ति होती है। यहाँ भी प्राण से सम्बद्ध प्रवृत्तियों द्वारा ( भूख, प्यास आदि ) अपने निर्वाह के लिए अन्न प्राप्ति की प्रार्थना की जा रही है। अगले मन्त्र में वह प्रार्थना की गयी है। इस स्तोत्र को त्रित कहा गया है। यह प्रार्थना तीन देवों से की गयी है। ]

ओऽमदा॒ऽमोऽपि॒बा॒ऽमोऽदेवो॑ वरुणः प्रजापतिः सविता॒ऽन्नमिहा॒ऽहरदन्नपते॒२-  
न्नमिहा॑ हरा॒ऽहरो॒ऽमिति ॥ ५ ॥

वे हिंकार करते हुए कहने लगे- ॐ हम भक्षण करें। ॐ हम पान करें। ॐ देव वरुण, प्रजापति, सूर्यदेव यहाँ अन्न लाएँ। हे अन्नपते! यहाँ अन्न लाएँ, यहाँ अन्न लाएँ ॥ ५ ॥

## ॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

यहाँ साम से सम्बन्धित स्तोभ साधना का वर्णन है। इसमें शास्त्रीय संगीत की तरह स्वरों का गायन तो होता है, किन्तु अर्थवाचक शब्दों का उपयोग नहीं होता। उसी प्रक्रिया में प्रयुक्त स्वरों से सम्बद्ध भावों का विवेचन यहाँ किया गया है-

अयं वाव लोको हाउकारो वायुर्हाइकारश्नन्द्रमा अथकार आत्मेहकारोऽग्निरीकारः ॥ १ ॥

इसमें 'हाउ' शब्द यह लोक (पृथ्वी) है। 'हाइ' शब्द वायु है। 'अथ' शब्द चन्द्रमा है। 'इह' शब्द आत्मा है और 'ई' अग्नि है। यह मानकर उपासना करनी चाहिए ॥ १ ॥

आदित्य ऊकारो निहव एकारो विश्वेदेवा औहोयिकारः प्रजापतिर्हिंकारः प्राणः  
स्वरोऽन्नं या वाग्विराट् ॥ २ ॥

'ऊ' आदित्य है, 'ए' निहव (निमंत्रण) का प्रतीक है 'औ होय' विश्वेदेवा है। 'हिं' प्रजापति है, 'स्वर' प्राण का रूप है। 'या' अन्न है और 'वाक्' विराट् है ॥ २ ॥

अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः संचरो हुंकारः ॥ ३ ॥

जो अनिवर्चनीय है, परन्तु जो कार्य में संचरित होता है, वह तेरहाँ स्तोभ 'हुं' है ॥ ३ ॥

दुर्ग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतामेवः साम्नामुपनिषदं  
वेदोपनिषदं वेद इति ॥ ४ ॥

जो इस प्रकार साम सम्बन्धी (स्तोभाक्षर सम्बन्धिनी) उपनिषद् (रहस्य) का महत्व जानता है। उसके सम्मुख वाणी अपना रहस्य स्वयं ही उद्घाटित कर देती है। वह प्रचुर अन्न तथा प्रदीप पाचक अग्नि वाला होता है ॥ ४ ॥

## ॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

### ॥ प्रथमः खण्डः ॥

ॐ समस्तस्य खलु साम्न उपासनः साधु यत्खलु साधु तत्सामेत्याचक्षते यदसाधु  
तदसामेति ॥ १ ॥

साम की सम्पूर्ण उपासना श्रेष्ठ (साधु) है। संसार में जो कुछ श्रेष्ठ है, वह साम है, ऐसा विद्वज्जन कहते हैं। जो असाधु है, उसे असाम कहते हैं ॥ १ ॥

[ यहाँ सामगान का मूलभाव स्पष्ट हो जाता है। सामगान का अर्थ होता है 'सदुद्देश्य के लिए किया गया श्रेष्ठ गान।' केवल स्वर कौशल के आधार पर हीन-संकीर्ण (लोभादि) भावों से किया गया गान 'साम गान' नहीं कहला सकता। उसके लिए तो परमार्थ युक्त यज्ञीय भाव ही अभीष्ट होते हैं, इसी खण्ड के अन्तिम चौथे मंत्र में यह भाव ऋषि ने स्पष्ट किया भी है। ]

तदुताप्याहुः साम्नैनमुपागादिति साधुनैनमुपागादित्येव तदाहुरसाम्नैनमुपागादित्य-  
साधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः ॥ २ ॥

अतः जब कोई यह कहता है कि मैं साम द्वारा राजा के पास गया, तो इसका तात्पर्य साधु भाव से जाने के रूप में है और जब कोई यह कहे कि मैं 'असाम' द्वारा गया, तो उसके कहने का तात्पर्य असाधुभाव से जाने का है ॥ २ ॥

अथोताप्याहुः साम नो बतेति यत्साधु भवति साधु बतेत्येव तदाहुरसाम नो बतेति  
यदसाधु भवत्यसाधु बतेत्येव तदाहुः ॥ ३ ॥

इस प्रकार यदि 'हमें साम प्राप्त हुआ' ऐसा कहते हैं, तो उसका तात्पर्य अत्यन्त शुभ फल की प्राप्ति कहा जाता है और यदि 'हमें असाम प्राप्त हुआ' ऐसा कहते हैं, तो उसका तात्पर्य अत्यन्त अशुभ की प्राप्ति है ॥ ३ ॥

स य एतदेवं विद्वान्साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनःसाधवो धर्मा आ च गच्छेयुरुप  
च नमेयुः ॥ ४ ॥

इस प्रकार साम को जो श्रेष्ठ जान कर उपासना करता है, उसे श्रेष्ठ धर्म की प्राप्ति शीघ्र ही होती है और धार्मिक सिद्धान्त उसके प्रति अवनत होते हैं अर्थात् उसके लिए वे (धर्म सिद्धान्त) शीघ्र ही धारण योग्य होते हैं ॥ ४ ॥

### ॥ द्वितीयः खण्डः ॥

इसी उपनिषद में पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि 'उद्गीथ' ही 'साम' है तथा साम का भाव 'साधु' - श्रेष्ठ सदाशयता पूर्ण होता है। उद्गीथ में प्राणों को उद्देश्य विशेष के लिए तरंगित- प्रेरित किया जाता है। श्रेष्ठ संदर्भों में प्राणों को तरंगित करने का क्रम स्थूल-सूक्ष्म प्रकृति में विभिन्न रूपों में चल रहा है। यज्ञीय गान में साम के पाँच विभाग या भक्ति कहे गये हैं। ऋषि ने विराट प्रकृति यज्ञ में साम के विभिन्न रूपों और उसके विभागों का वर्णन सप्तम खण्ड तक किया है। कहा गया है कि प्रकृति की विभिन्न क्रियाओं में होने वाले प्राणों के साम प्रयोगों से जो साधक तादात्म्य बिटा लेता है, उस साधक में उस चक्र को नियंत्रित करने की क्षमता आ जाती है-

लोकेषु पञ्चविधः सामोपासीत पृथिवी हिंकारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ  
आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वेषु ॥ १ ॥

ऊर्ध्व लोकों में पाँच प्रकार से साम की उपासना की जाती है। पृथिवी हिंकार है, अग्नि प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है। आदित्य प्रतिहार है और द्युलोक निधन है ॥ १ ॥

अथावृत्तेषु द्यौर्हिकार आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् ॥ २ ॥

इसी प्रकार अधोमुख लोकों में भी पाँच प्रकार से साम की उपासना की जाती है। स्वर्ग हिंकार है, आदित्य प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, अग्नि प्रतिहार है और पृथ्वी निधन है ॥ २ ॥

[ सामगान में 'हिंकार' प्रारंभ तथा 'निधन' समापन का द्योतक है। जब पृथ्वी से ऊर्ध्व लोकों को लक्ष्य करके प्राण तरंगित किया जाता है, तो मंत्र क्र. १ की स्थिति बनती है तथा जब ऊर्ध्व लोकों से पृथ्वी को लक्ष्य करके साम प्रयोग होता है, तो मंत्र क्र. २ की स्थिति बनती है। ]

कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वश्चावृत्ताश्च य एतदेवं विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविधःसामो-पास्ते ॥

इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष पंचविध साम की उपासना करता है, उसके लिए ऊर्ध्व और अधो लोकों के भोग सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं ॥ ३ ॥

### ॥ तृतीयः खण्डः ॥

वृष्टौ पञ्चविधः सामोपासीत पुरो वातो हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः ॥ १ ॥

अब वृष्टि में पाँच प्रकार के साम की उपासना का वर्णन करते हैं। पूर्वीय वायु हिंकार है, उत्पन्न होने वाला मेघ प्रस्ताव है। बरसने वाला जल उद्गीथ है। जो चमकता और गर्जन करता है, वह प्रतिहार है ॥ १ ॥

उद्गृह्णाति तन्निधनं वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधःसामोपास्ते ॥ २ ॥

जो जल को ग्रहण करता है, वह निधन है। इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष पंचविध साम की उपासना करता है, उसकी इच्छा के अनुरूप ही वर्षा होती है। उसे ही वर्षा कराने का श्रेय प्राप्त होता है ॥

### ॥ चतुर्थः खण्डः ॥

सर्वास्वप्सु पञ्चविधःसामोपासीत मेघो यत्संप्लवते स हिंकारो यद्वर्षति स प्रस्तावो याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथो याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम् ॥ १ ॥

सब प्रकार के जल में पंचविध साम की उपासना करनी चाहिए। घनीभूत होने वाले मेघ हिंकार हैं, बरसने वाले मेघ प्रस्ताव हैं, पूर्व दिशा में प्रवहमान मेघ उद्गीथ हैं, पश्चिम दिशा में प्रवहमान मेघ प्रतिहार हैं, समुद्र निधन हैं ॥ १ ॥

न हास्मु प्रैत्यप्मुमान्भवति य एतदेवं विद्वान्सर्वास्वप्सु पञ्चविधःसामोपास्ते ॥ २ ॥

इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष सब प्रकार के जल में पञ्चविध साम की उपासना करता है, उसकी कभी जल में मृत्यु नहीं होती और वह जल से सर्वदा सम्पन्न रहता है ॥ २ ॥

### ॥ पञ्चमः खण्डः ॥

ऋतुषु पञ्चविधःसामोपासीत वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् ॥ १ ॥

ऋतुओं में पंचविध साम की उपासना करनी चाहिए। वसन्त ऋतु हिंकार है। ग्रीष्म ऋतु प्रस्ताव है, वर्षा ऋतु उद्गीथ है, शरद ऋतु प्रतिहार है और हेमन्त ऋतु निधन है ॥ १ ॥

कल्पन्ते हास्मा ऋतवं ऋतुमान्भवति य एतदेवं विद्वानृतुषु पञ्चविधः सामोपास्ते ॥ २ ॥

इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष पञ्चविध साम की उपासना करता है, उसे ऋतुएँ अभीष्ट भोग प्रदान करती हैं तथा वह ऋतु के अनुसार सर्वदा भोगों से सम्पन्न रहता है ॥ २ ॥

## ॥ षष्ठः खण्डः ॥

पशुषु पञ्चविधः सामोपासीताजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनम् ॥ १ ॥

पशुओं में पञ्चविध साम की उपासना करनी चाहिए। बकरे हिंकार हैं, भेड़ें प्रस्ताव हैं, गौएँ उद्गीथ हैं, अश्व प्रतिहार हैं और पुरुष निधन हैं ॥ १ ॥

भवन्ति हास्य पशवः पशुमान्भवति य एतदेवं विद्वान्पशुषु पञ्चविधः सामोपास्ते ॥ २ ॥

इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष पशुओं में पञ्चविध साम की उपासना करता है, उसे पशु सम्पदा प्राप्त होती है और वह पशुओं द्वारा प्रदत्त भोगों से सम्पन्न होता है ॥ २ ॥

## ॥ सप्तमः खण्डः ॥

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत प्राणो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारो मनो निधनं परोवरीयाः सि वैतानि ॥ १ ॥

प्राणों (इन्द्रियों) में श्रेष्ठता के क्रम से साम की पञ्चविध उपासना करनी चाहिए। यह प्राण हिंकार है, वाणी प्रस्ताव है, चक्षु उद्गीथ है, श्रोत्र प्रतिहार है और मन निधन है। ये उपासनाएँ क्रमशः श्रेष्ठतर हैं ॥ १ ॥

परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान्प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपास्ते इति तु पञ्चविधस्य ॥ २ ॥

इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष प्राणों में पञ्चविध साम की उपासना करता है, वह श्रेष्ठतर जीवन को प्राप्त होता है तथा श्रेष्ठतर लोकों को प्राप्त करता है। यह पञ्चविध साम उपासना का स्वरूप है ॥ २ ॥

## ॥ अष्टमः खण्डः ॥

सामान्य क्रम में साम के पाँच विभाग किये जाते हैं। जब साधक की साधना परिपक्व हो जाती है, तो उसके सूक्ष्म विभाग बनाकर संख्या सात कर दी जाती है। अष्टम से दशम खण्ड तक सप्तविध साम की उपासना का मर्म प्रकट किया गया है-

अथ सप्तविधस्य वाचि सप्तविधः सामोपासीत यत्किंच वाचो हुमिति स हिंकारो यत्प्रेति स प्रस्तावो यदेति स आदिः ॥ १ ॥

अब सप्तविध साम की उपासना का वर्णन किया जाता है। वाणी में सप्तविध साम की उपासना करनी चाहिए। शब्द 'हुं' हिंकार रूप है। शब्द 'प्र' प्रस्ताव रूप है और शब्द 'आ' ही आदि रूप है ॥ १ ॥

यदुदिति स उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो यदुपेति स उपद्रवो यन्नीति तत्त्विधनम् ॥ २ ॥

शब्द 'उत्' ही उद्गीथ रूप है, 'प्रति' ही प्रतिहार है। शब्द 'उप' उपद्रव रूप है और 'नि' निधन रूप है ॥ २ ॥

दुधेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतदेवं विद्वान्वाचि सप्तविधः सामोपास्ते ॥ ३ ॥

इस प्रकार से जानने वाला जो पुरुष वाणी में सप्तविधि साम की उपासना करता है, वह वाणी के सारतत्त्व को प्राप्त कर लेता है तथा प्रचुर अन्न एवं अन्न को पचाने की सामर्थ्य भी प्राप्त कर लेता है ॥ ३ ॥

## ॥ नवमः खण्डः ॥

**अथ खल्वमुमादित्यः सप्तविधिः सामोपासीत सर्वदा समस्तेन साम मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम ॥ १ ॥**

अब आदित्य के रूप में सप्तविधि साम की उपासना का वर्णन किया जाता है। आदित्य सदा ही सम रहता है, अतः वह साम है। सभी को यही अनुभूत होता है कि वह हमारे प्रति सम है, अतः वह सभी के प्रति समान भाव वाला होने से भी साम है ॥ १ ॥

**तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति विद्यात्तस्य यत्पुरोदयात्स हिंकारस्तदस्य पश्वोऽन्वायत्तास्तस्मात्ते हिंकुर्वन्ति हिंकारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ २ ॥**

इस आदित्य के ये सम्पूर्ण प्राणी अनुगामी हैं। उसके उदय के पूर्व का रूप हिंकार है। सम्पूर्ण पशु आदि उसके हिंकार रूप के ही अनुगामी हैं। वे उस आदित्य रूप साम के हिंकार रूप के उपासक हैं। उसके उदय होने पर सभी हिंकार करने लगते हैं ॥ २ ॥

**अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्तावस्तदस्य मनुष्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रस्तुतिकामाः प्रशःसाकामाः प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ३ ॥**

उदीयमान सूर्य का जो प्रारंभिक रूप है, वह प्रस्ताव है। सभी मनुष्य उसी रूप के अनुगामी हैं। वे इस सामरूप प्रस्ताव के स्तोता हैं और उसी की प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप में स्तुति करने की अभिलाषा रखते हैं ॥ ३ ॥

**अथ यत्सङ्घववेलायाः स आदिस्तदस्य वयाःस्यन्वायत्तानि तस्मात्तान्यन्तरिक्षेऽनारम्भणान्यादायात्मानं परिपतन्त्यादिभाजीनि ह्येतस्य साम्नः ॥ ४ ॥**

जो सङ्घव वेला (सूर्योदय से तीन मुहूर्त अर्थात् लगभग ढाई घण्टे तक का समय) में आदित्य का रूप रहता है, वह आदि रूप है। समस्त पक्षीण उसी रूप के आश्रय में रहते हैं। वे उसी आदि रूप साम का भजन करने वाले हैं, अतः वे अपने आश्रय को छोड़कर अन्तरिक्ष में स्वच्छन्द विचरण करते हैं ॥ ४ ॥

**अथ यत्संप्रति मध्यन्दिने स उद्गीथस्तदस्य देवा अन्वायत्तास्तस्मात्ते सत्तमाः प्राजापत्यानामुद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ५ ॥**

तदनन्तर मध्य दिवस में आदित्य का जो रूप होता है, वह उद्गीथ रूप है। समस्त देवगण उसी उद्गीथ रूप के अनुगामी हैं। चूँकि वे उद्गीथ रूप साम के भागी (उपासक) हैं, अतः प्रजापति से उत्पन्न प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ हैं ॥ ५ ॥

**अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात्प्रागपराह्नात्स प्रतिहारस्तदस्य गर्भा अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रतिहता नावपद्यने प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ६ ॥**

आदित्य का जो रूप मध्याह्न के बाद और अपराह्न से पूर्व का होता है, वह प्रतिहार है। सभी गर्भ उसी रूप के अनुगामी हैं। चूँकि वे प्रतिहाररूप साम के भागी हैं, अतः वे ऊपर की ओर आकृष्ट होने पर भी नीचे नहीं गिरते ॥ ६ ॥

अथ यदूर्ध्वमपराह्नात्प्रागस्तमयात्स उपद्रवस्तदस्यारण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुषं  
दृष्ट्वा कक्षः श्वभ्रमित्युपद्रवन्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्रः ॥ ७ ॥

अपराह्न के पश्चात् और सूर्यस्त के पहले आदित्य का जो रूप होता है, वह उपद्रव है। सभी वन्य प्राणी उस रूप के अनुगामी हैं, अतः वे पुरुष को देखकर भय से बन अथवा गुफा में चले जाते हैं ॥ ७ ॥

अथ यत्प्रथमास्तमिते तत्रिधनं तदस्य पितरोऽन्वायत्तास्तस्मात्तात्रिदधति निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्र एवं खल्वमुमादित्यः सप्तविधः सामोपास्ते ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् अस्त होते हुए सूर्य का जो रूप है, वह निधन है। पितृगण उसके उस रूप के अनुगामी हैं। चूँकि वे पितृगण निधन रूप साम के उपासक हैं, अतः उन्हें प्रजा (श्राद्धकाल में दर्भ पर) स्थापित करती है। इस प्रकार इस आदित्य रूप साम की सप्तविध उपासना की जाती है ॥ ८ ॥

## ॥ दशमः खण्डः ॥

अथ खल्वात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधःसामोपासीत हिंकार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्समम् ॥ १ ॥

तदनन्तर आत्मा तुल्य अतिमृत्यु रूप सप्तविध साम की उपासना का वर्णन किया जाता है। शब्द 'हिंकार' तीन अक्षरों वाला है तथा 'प्रस्ताव' भी तीन अक्षरों वाला है, अतः दोनों समान हैं ॥ १ ॥

आदिरिति द्व्यक्षरं प्रतिहार इति चतुरक्षरं तत इहैकं तत्समम् ॥ २ ॥

शब्द 'आदि' दो अक्षरों से बना है और 'प्रतिहार' शब्द चार अक्षरों से बना है। इसमें से एक अक्षर निकालकर 'आदि' शब्द में जोड़ने से वे समान हो जाते हैं ॥ २ ॥

उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं त्रिभिस्त्रिभिः समं भवत्यक्षरमतिशिष्यते त्र्यक्षरं तत्समम् ॥ ३ ॥

'उद्गीथ' शब्द तीन अक्षरों वाला है और उपद्रव चार अक्षरों वाला है। ये तीन-तीन अक्षरों में समान हैं, एक अक्षर शेष रह जाता है। यह शेष रहने वाला 'अक्षर' कहा जाता है, इसमें भी तीन अक्षर हैं, अतः वह भी समान है ॥

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति तानि ह वा एतानि द्वाविःशतिरक्षराणि ॥ ४ ॥

'निधन' शब्द तीन अक्षरों वाला है, यह उनके समान ही है। इस प्रकार कुल सात शब्दों में बाईस अक्षर हैं ॥

एकविःशत्यादित्यमाप्नोत्येकविःशो वा इतोऽसावादित्यो द्वाविःशेन परमादित्या-जयति तत्राकं तद्विशेकम् ॥ ५ ॥

इकीस अक्षरों से साधक आदित्य लोक को प्राप्त करता है। (बारह मास, पाँच ऋतुएँ और तीन लोक मिलकर बीस होते हैं) आदित्य ही इकीसवाँ अक्षर है। बाईसवें अक्षर से साधक आदित्य से परे सुख स्वरूप, शोक रहित (स्वर्ग) लोक को प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

आप्नोति हादित्यस्य जयं परो हास्यादित्यजयाज्ययो भवति य एतदेवं विद्वानात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधः सामोपास्ते सामोपास्ते ॥ ६ ॥

इस प्रकार जो साधक परमात्म-तुल्य अति मृत्युरूप सप्तविध साम की उपासना करता है, वह इकीसवें अक्षर से आदित्य रूप साम की उपासना करता है और आदित्य लोक को जीत लेता है। बाईसवें अक्षर से वह आदित्य से परे लोक पर विजय प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

## ॥ एकादशः खण्डः ॥

**मनो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुदीथः श्रोत्रं प्रतिहारः प्राणो निधनमेतद्वायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ॥ १ ॥**

अब गायत्र सम्बन्धी विशिष्ट उपासना का वर्णन किया जाता है। मन हिंकार है, वाणी प्रस्ताव है, नेत्र उद्गीथ है, श्रोत्र प्रतिहार है, प्राण निधन है। यह गायत्र-साम प्राणों में प्रतिष्ठित है ॥ १ ॥

**स य एवमेतद्वायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद प्राणी भवति सर्वमायुरेति ज्योगजीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या महामना: स्यात्तद्व्रतम् ॥ २ ॥**

जो साधक इस प्रकार गायत्र-साम को प्राणों में अधिष्ठित हुआ जानता है (अनुभव करता है); वह प्राणवान् होता है, पूर्ण आयु को भोगता है और तेजस्वी जीवन जीता है। वह प्रजाओं तथा पशुओं से समृद्ध होता है, महान् यशस्वी होता है, वह महामना बने, ऐसा उसका व्रत होता है (अर्थात् गायत्र उपासक को महामना-उदारचित्त होना चाहिए) ॥ २ ॥

## ॥ द्वादशः खण्डः ॥

**अभिमन्थति स हिंकारो धूमो जायते स प्रस्तावो ज्वलति स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार उपशाम्यति तन्निधनं सःशाम्यति तन्निधनमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम् ॥ १ ॥**

अभिमन्थन से उत्पन्न अग्नि हिंकार है। धूम्रयुक्त अग्नि प्रस्ताव है, प्रज्वलित अग्नि उद्गीथ है, अङ्गारयुक्त अग्नि प्रतिहार है, अग्नि का उपशमन (बुझने लगना) निधन है। अग्नि का सर्वथा शमन होना भी निधन है। यह रथन्तर साम अग्नि में प्रतिष्ठित है ॥ १ ॥

**स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योगजीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न प्रत्यइङ्गिमाचामेन्न निष्ठीवेत्तद्व्रतम् ॥**

जो साधक इस प्रकार रथन्तर साम को अग्नि में प्रतिष्ठित जानता है, वह ब्रह्मतेज से सम्पन्न प्रदीप्त जठराग्नि से युक्त होता है। वह पूर्ण जीवन का उपभोग करता है, तेजोमय जीवन व्यतीत करता है। प्रजाओं तथा पशुओं से सम्पन्न होता है। वह महान् कीर्ति से सम्पन्न वृद्धि को प्राप्त होता है। अग्नि की ओर मुख करके साधक भक्षण न करे और न ही थूके-यही उसका व्रत होता है ॥ २ ॥

## ॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

**उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रति स्त्रीं सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वापदेव्यं मिथुने प्रोतम् ॥ १ ॥**

अब स्त्री-पुरुष के जोड़े के रूप में वामदेव्य साम की उपासना का वर्णन किया जाता है। पुरुष का संकेत देना हिंकार है। अपनी अभिव्यक्ति प्रस्ताव है। शयन उद्गीथ है। उस समय अनुकूल व्यवहार प्रतिहार है। स्नेह और सौहार्द पूर्वक साथ-साथ समय व्यतीत करना निधन है। यह वामदेव्य साम स्त्री-पुरुष के जोड़े में प्रतिष्ठित है ॥ १ ॥

[ऋषि ने दाम्पत्य और उनके माध्यम से चलने वाले प्रजनन चक्र को वामदेव्य साम के अन्तर्गत कहा है। कुछ लोग इस प्रसंग पर अश्लीलता का आरोप लगाते हैं; किन्तु ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि ऋषि प्रकृति-प्रवाह

के अन्तर्गत चलने वाले प्राण-प्रवाह के विभिन्न चक्रों की व्याख्या विभिन्न साम साधनाओं के रूप में कर रहे हैं। पुरुष-नारी द्वारा संचालित प्रजनन विज्ञान (जेनेटिक साइंस) को छोड़ा कैसे जा सकता था? वे (ऋषि) तो एक विशिष्ट साम (प्राणों से प्राणी के विकास की श्रेष्ठ साधना) देखते हैं। अस्तु, इस ज्ञान-विज्ञान के प्रसंग में कहाँ अश्रौलता की गंध लेने का प्रयास नहीं करना चाहिए।]

**स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद मिथुनीभवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योगजीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न कां च न परिहरेत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥**

जो साधक दाम्पत्य जीवन को वामदेव्य साम से ओत-प्रोत जानकर तदनुसार व्यवहार करता है, वह सुख से परिपूर्ण रहता है। वह सुसन्तति प्राप्त करता है, वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है, तेजोमय जीवन जीता है तथा प्रजाओं एवं पशुओं से समृद्ध होता है। वह महान् कीर्ति से वृद्धि को प्राप्त करता है। वह किसी का (अपनी पती का) कभी परित्याग न करे। यही साधक का व्रत है ॥ २ ॥

## ॥ चतुर्दशः खण्डः ॥

**उद्यन्हिकार उदितः प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथोऽपराह्णः प्रतिहारोऽस्तं यन्निधनमेतद्बृहदादित्ये प्रोतम् ॥ १ ॥**

उदीयमान सूर्य हिंकार है, उदित हुआ सूर्य प्रस्ताव है, मध्याह्नकालिक सूर्य उद्गीथ है, अपराह्ण कालिक सूर्य प्रतिहार है, अस्त होने वाला सूर्य निधन है। यह बृहत्साम सूर्य में अधिष्ठित है ॥ १ ॥

**स य एवमेतद्बृहदादित्ये प्रोतं वेद तेजस्व्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योगजीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या तपन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥**

जो साधक इस प्रकार बृहत्साम को सूर्य में स्थित जानता है, वह तेजस्वी और प्रदीप जठराग्नि से सम्पन्न होता है। वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है, तेजोमय जीवन व्यतीत करता है। वह सुसन्तति और पशुओं से समृद्ध होता है, वह महान् कीर्ति से वृद्धि को प्राप्त करता है। वह प्रखर सूर्य की कभी निन्दा न करे- यही साधक का व्रत है ॥ २ ॥

## ॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

**अभ्राणि संप्लवन्ते स हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उदगृह्णाति तन्निधनमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम् ॥ १ ॥**

मेघों का एकत्र होना हिंकार है। मेघों का बनना प्रस्ताव है। मेघों का जल बरसाना उद्गीथ है। बिजली का चमकना और कड़कना प्रतिहार है, वर्षा का समाप्त होना निधन है। यह वैरूप साम पर्जन्य में प्रतिष्ठित है ॥ १ ॥

**स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद विरूपाःश्च सुरूपाःश्च पशूनवरुन्थे सर्वमायुरेति ज्योगजीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥**

जो साधक इस प्रकार वैरूप साम को पर्जन्य में अधिष्ठित जानता है, वह विरूप और सुरूप पशुओं का स्वामी होता है, पूर्ण आयु का उपभोग करता है, ज्योतिर्मय जीवन व्यतीत करता है। वह सुसन्तति और पशुओं से समृद्ध होता है। वह महान् कीर्ति से प्रतिष्ठित होता है। वह बरसते मेघों की निन्दा न करे- यह उसका व्रत होता है ॥ २ ॥

## ॥ षोडशः खण्डः ॥

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनमेतद्वैराजमृतुषु  
प्रोतम् ॥ १ ॥

वसन्त ऋतु हिंकार है, ग्रीष्म ऋतु प्रस्ताव है, वर्षा ऋतु उद्गीथ है, शरद ऋतु प्रतिहार है, हेमंत ऋतु  
निधन है। यह वैराज साम ऋतुओं में अधिष्ठित है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद विराजति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन सर्वमायुरेति  
ज्योगजीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्यर्तून्न निन्देतद्व्रतम् ॥ २ ॥

जो साधक इस प्रकार वैराज साम को ऋतुओं में अधिष्ठित जानता है, वह सुसन्तति, पशु आदि सम्पदा  
एवं ब्रह्मतेज से सम्पन्न होता है। वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है, ज्योतिर्मय जीवन व्यतीत करता है,  
सुसन्तति और पशुओं से समृद्ध होता है, कीर्ति से सम्पन्न होकर वृद्धि पाता है। साधक ऋतुओं की निन्दा  
न करे- यही उसका व्रत होता है ॥ २ ॥

## ॥ सप्तदशः खण्डः ॥

पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिशः प्रतिहारः समुद्रो निधनमेताः  
शक्तयो लोकेषु प्रोताः ॥ १ ॥

पृथिवी हिंकार है, अन्तरिक्ष प्रस्ताव है, द्युलोक उद्गीथ है, दिशाएँ प्रतिहार हैं और समुद्र निधन है। यह  
शक्ति साम लोकों में अधिष्ठित है ॥ १ ॥

स य एवमेताः शक्तयो लोकेषु प्रोता वेद लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योगजीवति  
महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या लोकान्न निन्देतद्व्रतम् ॥ २ ॥

जो साधक इस प्रकार शक्ति साम को लोकों में अधिष्ठित जानता है, वह लोकों की विभूतियों से  
सम्पन्न होता है, वह सम्पूर्ण आयु का उपभोग करता है, तेजस्वी जीवन जीता है। वह सुसन्तति और पशुओं  
से समृद्ध होता है, कीर्ति से वृद्धि को पाता है। वह साधक लोकों की निन्दा न करे- यही उसका व्रत है ॥

## ॥ अष्टादशः खण्डः ॥

अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनमेता रेवत्यः  
पशुषु प्रोताः ॥ १ ॥

बकरी हिंकार है, भेड़े प्रस्ताव हैं, गौएँ उद्गीथ हैं, घोड़े प्रतिहार हैं और पुरुष निधन है- यह रेवती  
साम पशुओं में अधिष्ठित है ॥ १ ॥

स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद पशुमान्भवति सर्वमायुरेति ज्योगजीवति  
महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या पशुन्न निन्देतद्व्रतम् ॥ २ ॥

जो साधक इस प्रकार रेवती साम को पशुओं में अधिष्ठित जानता है, वह पशुओं से समृद्ध होता है,  
वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है, तेजस्वी जीवन जीता है। वह सुसन्तति और पशुओं से समृद्ध होता है।  
वह कीर्ति के द्वारा महान् होता है। वह साधक पशुओं की निन्दा न करे- यही उसका व्रत है ॥ २ ॥

## ॥ एकोनविंशः खण्डः ॥

लोम हिंकारस्त्वकप्रस्तावो माः समुद्रीथोऽस्थि प्रतिहारो मज्जा निधनमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

लोम हिंकार है, त्वचा प्रस्ताव है, मांस उद्गीथ है, अस्थि प्रतिहार है और मज्जा निधन है। यह यज्ञा- यज्ञीय साम शारीरिक अङ्गों में सन्त्रिहित है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतं वेदाङ्गी भवति नाङ्गेन विहृच्छति सर्वमायुरेति ज्योगजीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या संवत्सरं मज्जो नाश्रीयात्तद्व्रतं मज्जो नाश्रीयादिति वा ॥ २ ॥

जो साधक इस यज्ञायज्ञीय साम को अङ्गों में सन्त्रिहित जानता है, वह सम्पूर्ण अङ्गों से सम्पन्न होता है, किसी अङ्ग से हीन नहीं होता। वह सम्पूर्ण आयु का उपभोग करता है, तेजस्वी जीवन जीता है। वह सुसन्तति और पशुओं से समृद्ध होता है। वह महान् यशस्वी होता है। वह साधक एक वर्ष तक अध्यवा सर्वदा ही मांस भक्षण न करे- यही उसका व्रत है ॥ २ ॥

## ॥ विंशः खण्डः ॥

अग्निर्हिंकारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्राजनं देवतासु प्रोतम् ॥ १ ॥

अग्नि हिंकार है, वायु प्रस्ताव है, आदित्य उद्गीथ है, नक्षत्र प्रतिहार है, चन्द्रमा निधन है। यह राजन साम देवों में अधिष्ठित है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेदैतासामेव देवतानाः सलोकताः सार्ष्टिताः सायुज्यं गच्छति सर्वमायुरेति ज्योगजीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या ब्राह्मणान्न निन्देतद्व्रतम् ॥ २ ॥

जो साधक इस प्रकार राजन साम को देवताओं में प्रतिष्ठित जानता है, वह उन्हीं देवों के लोकों, ऐश्वर्यों और एकरूपता को प्राप्त हो जाता है। वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है, तेजस्वी जीवन जीता है, सुसन्तति और पशुओं द्वारा समृद्ध होता है, यशस्वी होकर महान् बनता है। वह साधक ब्राह्मणों की निन्दा न करे-यही उसका व्रत है ॥ २ ॥

## ॥ एकविंशः खण्डः ॥

त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोकाः स प्रस्तावोऽग्निर्वायुरादित्यः स उद्गीथो नक्षत्राणि वयाः सि मरीचयः स प्रतिहारः सर्पा गन्धर्वाः पितरस्तन्निधनमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतम् ॥ १ ॥

त्रयी वेद विद्या हिंकार है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक - ये तीन लोक प्रस्ताव हैं। अग्नि, वायु और आदित्य ये उद्गीथ हैं। नक्षत्र, पक्षी और किरणें ये प्रतिहार हैं। सर्प, गन्धर्व और पितृगण- ये निधन हैं। यह साम सम्पूर्ण जगत् में प्रतिष्ठित है ॥ १ ॥

स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतं वेद सर्वः ह भवति ॥ २ ॥

जो साधक इस साम को सम्पूर्ण जगत् में प्रतिष्ठित जानता है, वह सर्वरूप हो जाता है ॥ २ ॥

तदेष श्लोकः । यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ॥ ३ ॥

इस सम्बन्ध में यह श्लोक है- उपर्युक्त साम में पाँच प्रकार से तीन-तीन (त्रिक) स्वरूपों का वर्णन है। उनसे श्रेष्ठ उनके अतिरिक्त और कोई साम नहीं है ॥ ३ ॥

यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति । सर्वमस्मीत्युपासीत तदव्रतं तदव्रतम् ॥ ४ ॥

जो साधक उसे जानता है, वह सब कुछ जानता है। उसे सभी दिशाएँ (सम्पूर्ण प्रकृति) बलि (भोगों का अनुदान) देती हैं। हम ही सब कुछ हैं, यह मानकर साधक उपासना करे- यही उसका व्रत है ॥ ४ ॥

## ॥ द्वाविंशः खण्डः ॥

विनर्दि साम्नो वृणे पशव्यमित्यग्रेरुद्गीथोऽनिरुक्तः प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्य मृदु  
शूक्ष्यं वायोः शूक्ष्यं बलवदिन्द्रस्य क्रौञ्चं बृहस्पतेरपध्वानं वरुणस्य तास्वर्वानेवोपसेवेत  
वारुणं त्वेव वर्जयेत् ॥ १ ॥

साम के 'विनर्दि' नामक उद्गान का वर्णन करते हैं, वह पशुओं के लिए हितकारी है। वह अग्नि देवता से सम्बन्धित उद्गान है। प्रजापति का उद्गान स्पष्ट वर्णनीय नहीं है और सोम का उद्गान स्पष्ट वर्णनीय है। वायु देवता का उद्गान मृदु एवं मधुर है। इन्द्र देवता का उद्गान मधुर एवं पराक्रम साध्य है। बृहस्पति देवता का उद्गान क्रौञ्च पक्षी के सदृश है। वरुण देव का उद्गान फूटे काँसे के पात्र सदृश है। ये सभी उद्गान सेवनीय हैं, परन्तु वरुण देवता से सम्बद्ध उद्गान त्याज्य है ॥ १ ॥

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत्स्वधां पितृभ्य आशां मनुष्येभ्यस्तृणोदकं पशुभ्यः  
स्वर्गं लोकं यजमानायान्नमात्मन आगायानीत्येतानि मनसा ध्यायन्नप्रमत्तः स्तुवीत ॥ २ ॥

हम देवों के लिए अमरत्व का उपाय करें। पितरों के लिए स्वधा का, मनुष्यों के लिए इष्ट वस्तुओं का, पशुओं के लिए तृण एवं जल का, यजमान के लिए स्वर्ग लोक का और अपने लिए अन्न का उपाय करें- इस प्रकार इनका मन से चिन्तन करते हुए प्रमाद रहित होकर स्तुति करें ॥ २ ॥

सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मनः सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानस्तं  
यदि स्वरेषूपालभेतेन्द्रः शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति वक्ष्यतीत्येन ब्रूयात् ॥ ३ ॥

समस्त स्वर इन्द्रदेव की आत्मा हैं। सभी ऊष्मा वर्ण देव प्रजापति की आत्मा हैं, सभी स्पर्श वर्ण मृत्यु देव की आत्मा हैं। यदि कोई व्यक्ति ऐसे उद्गाता के स्वर उच्चारण में दोष बताए, तो वह उससे कहे कि 'मैं इन्द्रदेव के आश्रय में था, वही आपको इसका उत्तर देंगे' ॥ ३ ॥

अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत प्रजापतिः शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रतिपेक्ष्यतीत्येन ब्रूयादथ  
यद्येनः स्पर्शेषूपालभेत मृत्युः शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रतिधक्ष्यतीत्येन ब्रूयात् ॥ ४ ॥

यदि कोई पुरुष उद्गाता के ऊष्मवर्णों के उच्चारण में दोष कहे, तो उससे वह कहे कि 'मैं प्रजापति, देव के आश्रय में था, वही आपको नष्ट करेंगे, यदि कोई पुरुष स्पर्श वर्णों के उच्चारण में दोष प्रकट करे, तो वह उससे कहे कि - 'मैं मृत्यु देवता के आश्रय में था, वे ही आपको भस्म करेंगे' ॥ ४ ॥

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं ददानीति सर्व ऊष्माणोऽग्रस्ता  
अनिरस्ता विवृता वक्तव्याः प्रजापतेरात्मानं परिददानीति सर्वे स्पर्शा लेशोनानभिनिहिता  
वक्तव्या मृत्योरात्मानं परिहरणीति ॥ ५ ॥

सभी स्वर घोषपूर्वक और बलपूर्वक उच्चारण किये जाने चाहिए। उनका उच्चारण करते समय कहे- हम इन्द्रदेव में पराक्रम की स्थापना करते हैं। सभी ऊष्मवर्ण बिना ग्रहण किये और बिना निकाले ही प्रयत्नपूर्वक उच्चारण किये जाते हैं। उनके उच्चारण के समय कहे - हम प्रजापति को अपनी आत्मा देते हैं। सभी स्पर्शाक्षर एक दूसरे में मिलाये बिना ही उच्चारण करते हुए कहे - 'हम मृत्युदेव से अपने को छुड़ाते हैं' ॥

## ॥ त्रयोविंशः खण्डः ॥

**त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्य-**  
**कुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति**  
**ब्रह्मसःस्थोऽमृतत्वमेति ॥ १ ॥**

धर्म के तीन स्कन्धों (आधार स्तम्भों) के विषय में वर्णन करते हैं। धर्म के तीन स्कन्ध हैं; यज्ञ, अध्ययन और दान-यह पहला स्कन्ध है। तप दूसरा स्कन्ध है। आचार्य कुल में साधनारत ब्रह्मचारी आचार्य कुल में अपने शरीर को तितिक्षा द्वारा क्षीण कर देता है, यह तीसरा स्कन्ध है। ये सभी पुण्य लोकों के अधिकारी होते हैं और ब्रह्म में स्थित अमृतत्व को प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

**प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितसेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्त्रवत्तामभ्यतपत्तस्या**  
**अभितसाया एतान्यक्षराणि संप्रास्त्रवत्त भूर्भुवः स्वरिति ॥ २ ॥**

प्रजापति देव लोकों का सार ग्रहण करने के उद्देश्य से तप करने लगे। तप के प्रभाव से लोकों से त्रयी विद्या-ऋक्, यजु एवं साम की उत्पत्ति हुई। पुनः तप के प्रभाव से उस त्रयी विद्या से भूः, भुवः एवं स्वः-ये अक्षर प्रस्त्रवित हुए ॥ २ ॥

**तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितसेभ्य ॐकारः संप्रास्त्रवत्तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि**  
**संतुण्णान्येवमोक्तारेण सर्वा वाक् संतुण्णोक्तार एवेदः सर्वमोक्तार एवेदः सर्वम् ॥ ३ ॥**

पुनः तप के प्रभाव से उन्होंने तीनों अक्षरों का सार ॐकार प्राप्त किया। जिस प्रकार शङ्कुओं (नसों) द्वारा सभी पत्ते व्यास रहते हैं, उसी प्रकार ॐकार द्वारा सम्पूर्ण वाणियाँ व्यास हैं। ॐ कार ही यह सम्पूर्ण (जगत्) है। ॐ ही यह सम्पूर्ण (आकाश) है ॥ ३ ॥

## ॥ चतुर्विंशः खण्डः ॥

इस खण्ड में यज्ञ के तीन (प्रातः, मध्याह्न और सायं) सवनों के माध्यम से जीवन के तीन कालों में किए जाने वाले साधना पुरुषार्थ का उल्लेख ऋषि ने किया है। ब्रह्मचर्य आश्रम में अध्ययन आदि पूर्ण होने पर जीवन का प्रारंभ सदगृहस्थ से किया जाता है। इसीलिए प्रथम सवन में गार्हपत्याग्नि से साधना प्रारंभ की जाती है-

**ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातःसवनः रुद्राणां माध्यन्दिनः सवनमादित्यानां च**  
**विश्वेषां च देवानां तृतीयसवनम् ॥ १ ॥**

(अब यज्ञ के सम्बंध में कहते हैं।) ब्रह्मवादी कहते हैं कि प्रातःकाल का सवन वसुगणों का है, मध्याह्न सवन रुद्रगणों का है और तृतीय सवन आदित्य गणों तथा विश्वेदेवों का है ॥ १ ॥

**क्रतर्हि यजमानस्य लोक इति स यस्तं न विद्यात्कथं कुर्यादथ विद्वान्कुर्यात् ॥ २ ॥**

फिर यजमान का लोक कहाँ है? जो यजमान अपने पुण्यलोक को नहीं जानता, वह यज्ञ क्यों करेगा? अतः यज्ञ के फलस्वरूप पुण्यलोक को जानकर ही यज्ञ करना चाहिए ॥ २ ॥

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन गार्हपत्यस्योदइमुख उपविश्य स वासवः  
सामाभिगायति ॥ ३ ॥

प्रातःकाल अनुवाक (ऋचा) का पाठ करने से पूर्व वह यजमान गार्हपत्याग्नि के पीछे उत्तराभिमुख बैठकर वसुदेवों के साम का भली प्रकार गान करता है ॥ ३ ॥

लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयःरा ३ ३ ३ ३ हुं ३ आ ३३ ज्या ३  
यो ३ आ ३२११ इति ॥ ४ ॥

हे अग्निदेव ! आप इस लोक (लौकिक सम्पदा) का द्वार खोल दें, जिससे हम राज्य प्राप्ति के निमित्त आपका दर्शन करें ॥ ४ ॥

अथ जुहोति नमोऽग्न्ये पृथिवीक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै  
यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ ५ ॥

यजमान हवन करते हुए पृथ्वी लोक निवासी इस अग्निदेव को नमन करते हुए कहते हैं - हे अग्निदेव ! आपको हमारा नमन है । आप हमें इस लोक की प्राप्ति कराएँ, निश्चय ही यही यजमान का लोक है । हम इसे प्राप्त करें ॥ ५ ॥

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै वसवः  
प्रातःसवनः संप्रयच्छन्ति ॥ ६ ॥

यजमान हवन करते हुए कहते हैं - हम आयु समाप्त होने पर पुण्य लोक को प्राप्त हों, इस निमित्त आहृति समर्पित है । बाधाओं (सीमाओं) को दूर करें, ऐसा कहकर वे उठते हैं । वसुगण उन्हें प्रातः सवन प्रदान करते हैं ॥ ६ ॥

[ 'वसुगण' आवास देने वाले देवता हैं । इस लोक में दैवी अनुशासन में सुखी-सम्पन्न जीवन की प्राप्ति के लिए उनसे प्रार्थना की जाती है । ]

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाग्नीश्चीयस्योदइमुख उपविश्य स रौद्रः  
सामाभिगायति ॥ ७ ॥

मध्याह्न सवन के पूर्व यजमान दक्षिणाग्नि के पीछे उत्तराभिमुख होकर बैठकर रुद्रदेव सम्बन्धी साम का गायन करता है ॥ ७ ॥

लोऽकद्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं वैरा ३३३३ हुं ३ आ ३३ ज्या ३ यो  
३ आ ३२११ इति ॥ ८ ॥

हे वायो ! आप अन्तरिक्ष लोक का द्वार खोलें, जिससे हम वैराज्य पद की प्राप्ति हेतु आपका दर्शन करें ॥

अथ जुहोति नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै  
यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ ९ ॥

अब यजमान हवन करते हुए कहते हैं - अन्तरिक्ष लोक के निवासी हे वायुदेव ! आपको नमस्कार है । हमें अन्तरिक्ष लोक (विभूतियाँ) प्राप्ति कराएँ । यह निश्चय ही यजमान का लोक है, इसे हम प्राप्त करें ॥ ९ ॥

[ सदगृहस्थ के दायित्व पूरे करके जीवन के दूसरे सवन में साधक को वानप्रस्थ जीवन जीना चाहिए । रुद्र सुधारात्मक पुरुषार्थ करना चाहिए । ]

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै रुद्रा  
माध्यन्दिनः सवनः संप्रयच्छन्ति ॥ १० ॥

अब यजमान हवन करते हुए कहते हैं- हम आयु समाप्त होने पर अन्तरिक्ष लोक प्राप्त करें, इस निमित्त यह आहुति समर्पित है। वह यजमान जब इस लोक की प्राप्ति के निमित्त समस्त बाधाएँ दूर करने के लिए तैयार हो जाते हैं, तब उन्हें रुद्रगण मध्याह्न सवन प्रदान करते हैं ॥ १० ॥

पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणाजघनेनाहवनीयस्योदइमुख उपविश्य स आदित्यः स  
वैश्वदेवः सामाभिगायति ॥ ११ ॥

तृतीय सवन के पूर्व यजमान आहवनीय अग्नि के पीछे उत्तराभिमुख बैठकर विश्वेदेवा सम्बन्धी साम का गायन करते हैं ॥ ११ ॥

लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयःस्वारा ३३३३३ हुं ३ आ ३३ ज्या ३  
यो ३ आ ३२१११ इति ॥ १२ ॥

हे आदित्य देव! आप स्वर्गलोक का द्वार खोल दें, जिससे हम स्वाराज्य प्राप्ति के निमित्त आपका दर्शन कर सकें ॥ १२ ॥

आदित्यमथ वैश्वदेवं लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयः साम्ना ३३३३३  
हुं ३ आ ३३ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥ १३ ॥

यह आदित्य सम्बन्धी साम है, अब विश्वेदेवा सम्बन्धी साम का गायन करते हैं- हे देवगणो! आप स्वर्गलोक का द्वार खोल दें, जिससे हम साम्राज्य प्राप्ति के निमित्त आपका दर्शन कर सकें ॥ १३ ॥

अथ जुहोति नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो दिविक्षिदभ्यो लोकक्षिदभ्यो  
लोकं मे यजमानाय विन्दत ॥ १४ ॥

तदनन्तर यजमान यज्ञ करते हुए कहते हैं- स्वर्ग लोक निवासी आदित्यगण और विश्वेदेवा इस लोक में रहने वाले इस यजमान का नमन स्वीकार करें। इस यजमान को पुण्यलोक की प्राप्ति कराएँ ॥ १४ ॥

एष वै यजमानस्य लोक एतास्म्यत्र यजमानः परस्तादायुषः  
स्वाहाऽपहतपरिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति ॥ १५ ॥

यह निश्चय ही यजमान का लोक है, इसे हम प्राप्त करें। यहाँ यजमान यज्ञ करते हुए कहते हैं- आयु समाप्त होने पर हम स्वर्गलोक प्राप्त करें, इस निमित्त यह आहुति समर्पित है। 'हम स्वर्ग लोक प्राप्ति हेतु आगे आयी सीमाएँ पार करेंगे' ऐसा कहकर यजमान तैयार हो जाते हैं ॥ १५ ॥

तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवास्तृतीयं सवनः संप्रयच्छन्त्येष ह वै यज्ञस्य मात्रां वेद  
य एवं वेद य एवं वेद ॥ १६ ॥

उस यजमान को आदित्यगण और विश्वेदेवा तृतीय सवन प्रदान करते हैं। जो इस प्रकार इन तथ्यों को जानते हैं, वे यज्ञ के सार तत्त्व को जानते हैं ॥ १६ ॥

[ आदित्य एवं विश्वेदेवा की साधना द्वारा जीवन के अन्तिम चरण में साधक को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के अनुरूप ज्ञान एवं प्रेरणा का संचार करना चाहिए। ]

## ॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

### ॥ प्रथमः खण्डः ॥

असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव तिरशीनवःशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः ॥ १ ॥

(३०कार रूप) यह आदित्य ही देवों का मधु है। द्युलोक वह तिरछा बाँस है, जिससे छत्ता लटकता है। अन्तरिक्ष छाता है और किरणें मधु-मक्खियों के बच्चों की तरह हैं ॥ १ ॥

तस्य ये प्राञ्छो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्यः। ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपस्ता वा एता ऋचः ॥ २ ॥

इस आदित्य की पूर्व दिशा की जो किरणें हैं, वे छत्तों के पूर्वीय छिद्र हैं। ऋचाएँ ही मधुमक्खियाँ हैं, ऋग्वेद ही पुष्प हैं, सोम आदि अमृत रूप जल तत्त्व हैं ॥ २ ॥

एतमृग्वेदमभ्यतपःस्तस्याभितपस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यः रसोऽजायत ॥ ३ ॥

उन ऋचाओं ने ही ऋग्वेद को अभितप किया, उस अभितपन से यश, तेजस्, इन्द्रिय-शक्ति, पराक्रम अन्नादि रस उत्पन्न हुआ ॥ ३ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितःरूपम् ॥ ४ ॥

वह रस विशेष रूप से क्रियाशील हुआ। उसने आदित्य के पूर्व भाग में आश्रय ले लिया। यह जो आदित्य का लाल रंग दिख रहा है, वही वह रस है ॥ ४ ॥

### ॥ द्वितीयः खण्डः ॥

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो यजूःस्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

अब आदित्य की जो दक्षिण दिशा की ओर किरणें हैं, वे इस छत्ते की दक्षिणवर्ती मधु नाड़ियाँ हैं। यजुर्वेद की कण्ठिकाएँ ही मधुमक्खियाँ हैं, यजुर्वेद ही पुष्प है और (सोमादि) अमृत ही जल है ॥ १ ॥

तानि वा एतानि यजूःस्येतं यजुर्वेदमभ्यतपःस्तस्याभितपस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यःरसोऽजायत ॥ २ ॥

यजुर्वेद की कण्ठिकाओं ने यजुर्वेद को अभितप किया। उस अभितपन से यश, तेजस्विता, इन्द्रिय शक्ति, पराक्रम और अन्नादि रस उत्पन्न हुए ॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य शुक्लः रूपम् ॥ ३ ॥

वह रस विशेष रूप से क्रियाशील हुआ। उसने आदित्य के दक्षिण भाग का आश्रय लिया। यह जो आदित्य का श्वेत रूप दृष्टिगोचर हो रहा है, यह वही है ॥ ३ ॥

### ॥ तृतीयः खण्डः ॥

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्यः सामान्येव मधुकृतः सामवेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

अब जो आदित्य के पश्चिमी छोर की किरणें हैं, वे ही पश्चिम ओर की मधु नाड़ियाँ हैं। साम मन्त्र ही मधुमक्खियों के रूप में हैं, सामवेद ही पुष्प हैं और (सोमादिरूप) अमृत ही जल है ॥ १ ॥

तानि वा एतानि सामान्येतः सामवेदमभ्यतपःस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं  
वीर्यमन्नाद्यः रसोऽजायत ॥ २ ॥

उन साम मन्त्रों ने सामवेद को अभितप्तस किया। उस अभितप्तन से यश, तेजस्, इन्द्रिय शक्ति, पराक्रम और अन्नादि रूप रस उत्पन्न हुए ॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णःरूपम् ॥ ३ ॥

वह रस विशेष रूप से क्रियाशील हुआ और आदित्य के पश्चिमी भाग में आश्रित हुआ। यह जो आदित्य का कृष्ण रूप है, यह वही है ॥ ३ ॥

## ॥ चतुर्थः खण्डः ॥

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्ग्निरस एव मधुकृत  
इतिहासपुराणं पुष्टं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

इस आदित्य की जो उत्तरी भाग की किरणें हैं, वे ही इसकी उत्तर दिशा की मधु नाड़ियाँ हैं, अर्थव-मन्त्र ही मधु मक्खियाँ हैं। इतिहास-पुराण ही पुष्ट हैं। (सोमादि रूप) अमृत ही जल है ॥ १ ॥

ते वा एतेऽथर्वाङ्ग्निरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपःस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं  
वीर्यमन्नाद्यःरसोऽजायत ॥ २ ॥

उन अर्थव मन्त्रों ने इतिहास-पुराण आदि को अभितप्तस किया। उस अभितप्तन से यश, तेजस्, इन्द्रिय शक्ति, पराक्रम और अन्नादि रूप रस उत्पन्न हुए ॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णःरूपम् ॥ ३ ॥

वह रस विशेष रूप से क्रियाशील हुआ और आदित्य के उत्तर भाग में आश्रित हुआ। यह जो आदित्य का अत्यन्त कृष्ण रूप है, यह वही है ॥ ३ ॥

## ॥ पञ्चमः खण्डः ॥

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मैव  
पुष्टं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

इस आदित्य की जो ऊपर की ओर की रश्मियाँ हैं, यही ऊपर की मधु नाड़ियाँ हैं। गुह्या (अदृश्य) आदेश ही मधुकर हैं, ब्रह्म ही पुष्ट है तथा (सोमादि रूप) अमृत ही जल है ॥ १ ॥

ते वा एते गुह्या आदेशा एतद्व्यह्यतपःस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं  
वीर्यमन्नाद्यः रसोऽजायत ॥ २ ॥

उन गुह्या आदेशों ने ही ब्रह्म को अभितप्तस किया। उस अभितप्तन से यश, तेजस्, इन्द्रिय शक्ति, पराक्रम और अन्नादिरूप रस उत्पन्न हुए ॥ २ ॥

[ पदार्थ विज्ञान आदित्यादि की सक्रियता के पीछे पदार्थ कणों की सक्रियता को कारण मानता है। ऋषि कहते हैं कि आदित्यादि की जो दृश्य प्रक्रिया चल रही है, उसके पीछे चेतन का संकल्प या आदेश कार्य कर रहा है। कम्प्यूटर सारे कार्य करता दिखता है, किन्तु कम्प्यूटर वैज्ञानिक जानता है कि उस सारी प्रक्रिया के मूल में कम्प्यूटर को दिया गया निर्देश (कमाण्ड) ही उसकी सक्रियता का कारण है। उसी प्रकार ऋषि इस विश्व ब्रह्माण्ड के पीछे कोई गुप्त निर्देश होना मानते हैं। उसे ही उन्होंने दृश्य रसों का भी रस कहा है। ]

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव ॥ ३ ॥

वह रस विशेष रूप से क्रियाशील हुआ और वह आदित्य के ऊर्ध्व भाग में आश्रित हुआ। आदित्य के मध्य भाग में जो उद्वेलित होता हुआ संचरित हो रहा है, यह वही है ॥ ३ ॥

ते वा एते रसानां रसा वेदा हि रसास्तेषामेते रसास्तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि ॥ ४ ॥

वे श्वेत, कृष्ण, रोहित आदि रूप ही रसों के रस हैं, वेद ही रस हैं और वे उनके भी रस हैं। वे ही अमृतों के अमृत हैं- वेद ही अमृत हैं और वे उनके भी अमृत हैं ॥ ४ ॥

[ प्रथम से पाँचवें खण्ड तक आदित्य के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर भागों तथा ऊर्ध्व भाग में स्थित रसों का वर्णन किया गया है। सूर्य के दृश्य स्थूल रंगों के साथ कुछ सूक्ष्म चेतन प्रवाह भी जुड़े हुए हैं, ऐसा ऋषि ने कहा है। सूर्य के रोहित, श्वेत रंग विभाग तो सहज ही समझ में आ जाते हैं। कृष्ण और अतिकृष्ण क्या है? यह सूर्य के वे विभाग हो सकते हैं, जिन्हें पदार्थ विज्ञानी सौर कलंक कहते हैं। इन पाँच खण्डों में सूर्य के पूर्वादि विभागों में विशेष प्रवाहों की स्थापना का वर्णन किया गया है। आगे के ५ खण्डों में ( ६ से १० तक ) सूर्य के उन्हीं भागों से उसी प्रकार अमृत प्रवाहों के प्रकट होने तथा उसके प्रभाव आदि का वर्णन किया गया है। ]

## ॥ षष्ठः खण्डः ॥

तद्यत्प्रथममृतं तद्वस्व उपजीवन्त्यग्निना मुखेन न वै देवा अश्रन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

इनमें जो (रोहित वर्ण का) प्रथम अमृत है, वसुगण अग्नि देव के मुख से संयुक्त होकर उसमें जीवन धारण करते हैं। देवगण न तो खाते हैं, न पीते हैं, वे केवल इस अमृत को देखकर ही तृप्ति को प्राप्त कर लेते हैं ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

वे वसुगण इस रूप से ही विश्रान्ति पाते हैं और उसी से उत्साहित भी होते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवमृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाग्नैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स य एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

जो इस प्रकार इस अमृत रूप को जानता है, वह वसुगणों में ही कोई एक होता है। वह अग्नि (यज्ञ) के साथ संयुक्त होकर इस अमृत रूप को देखकर ही तृप्त हो जाता है। इसी रूप से वह ध्यानस्थ (अक्रिय) होता है और इसी से उत्साहित भी होता है ॥ ३ ॥

[ ऋषि कहते हैं कि वसुओं द्वारा प्रवाहित अमृत तत्त्व को साधकों में स्थित वसु ही जान पाते हैं। आगे के खण्डों में इसी प्रकार रुद्र आदि के बारे में कहा गया है। उपनिषदों का यह मत है ही कि विराट् में स्थित देवों के अंश मनुष्य के अन्दर में स्थित हैं। अस्तु, वे अपने समानधर्मी प्रवाहों से सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। सुदूर अन्तरिक्ष यानों में स्थित विभिन्न उपकरणों को उनके अनुरूप विशेष फ्रीकैसी सिगनल भेजकर सक्रिय या निष्क्रिय कर दिया जाता है, उसी प्रकार मनुष्य के अन्दर स्थापित विशिष्ट सर्किट ( चक्र ) देव प्रवाह अन्तरिक्षीय तत्सम प्रवाहों से जाग्रत् या सुम अवस्था को प्राप्त होते हैं। ]

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता वसूनामेव तावदाधिपत्यः स्वाराज्यं पर्येता ॥

जब तक सूर्य अपने पूर्व पक्ष से उदित होता है और उसका पश्चिम भाग अस्त होता है, तब तक वसुगणों के अधिकार और स्वाराज्य के भागों का उपभोग करता है ॥ ४ ॥

[ छठवें से दसवें खण्ड तक सूर्य के उदय एवं अस्त की प्रक्रिया में विभिन्न दिशाओं का उल्लेख किया गया है। अधिकांश आचार्यों ने उन दिशाओं को पृथ्वी की दिशाएँ मानकर अर्थ करने के प्रयास किए हैं, जो विवेक को संतुष्ट नहीं कर पाते। ये दिशाएँ पृथ्वी की दिशाएँ नहीं हैं। जैसा कि पूर्व खण्डों में स्पष्ट लिखा है कि विशिष्ट दिव्य प्रवाहों की स्थापना सूर्य के विशिष्ट ( पूर्वादि नामक ) भागों में हुई है। यहाँ सूर्य के उन्हीं भागों से विशिष्ट अमृत प्रवाहों के प्रकट होने की बात कही गयी है। आदित्य के पूर्व से उदय का भाव यह लिया जाना चाहिए कि जब आदित्य का पूर्व वाला भाग दृश्य होता है और पश्चिम वाला अदृश्य ( अस्त ) होता है, उस समय तक वसुगणों का तथा उनसे सम्बद्ध अमृत प्रवाह का प्रभाव वातावरण एवं साधक पर रहता है। आगे के खण्डों में भी इसी प्रकार सूर्य के अन्य दक्षिण, पश्चिम आदि भागों के उदय-अस्त का भाव लिया जाना उचित है। ]

## ॥ सप्तमः खण्डः ॥

अथ यद्द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन न वै देवा अश्रन्ति न  
पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

यह जो शुक्लरूप द्वितीय अमृत है, रुद्रगण इन्द्रदेव के नेतृत्व में संयुक्त होकर उसमें जीवन धारण करते हैं। वे देवगण न तो खाते हैं और न पीते हैं, वे इस अमृतरूप को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

वे इस रूप को देखकर ही अक्रिय ( ध्यानस्थ ) हो जाते हैं और इसी को देखकर उत्साहित भी होते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स  
एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

जो साधक इस प्रकार इस अमृत को जानता है, वह रुद्रगणों में से कोई एक होकर इन्द्रदेव के नेतृत्व में इस अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूप को देखकर ही अक्रिय हो जाता है और इसी को देखकर उत्साहित होता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता द्विस्तावद्वक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता  
रुद्राणामेव तावदाधिपत्यः स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

जब तक आदित्य अपने पूर्व भाग से उदित होता और पश्चिम से अस्त होता है, उससे दुगुने समय तक उसका दक्षिण भाग उदित होता है और उत्तर भाग अस्त होता है। उतने समय तक वह ( साधक ) रुद्रगणों के ही अधिकार एवं स्वाराज्य को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

## ॥ अष्टमः खण्डः ॥

अथ यन्तीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन न वै देवा अश्रन्ति न  
पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

अब यह जो कृष्ण रूप तृतीय अमृत है, आदित्यगण वरुणदेव के नेतृत्व में उसमें जीवन धारण करते हैं। वे देवगण न तो खाते हैं, न पीते हैं, वे इस अमृत को देखकर ही तृप्ति का अनुभव करते हैं ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

वे इसी रूप से विश्रान्ति पाते हैं और इसी से उत्साहित हो जाते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेदादित्यानामेवैको भूत्वा वरुणेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति  
स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

जो इस प्रकार इस अमृत को जानता है, वह साधक आदित्यगणों में से एक होकर वरुण देव के नेतृत्व में अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूप से ही अक्रिय होता है और इसी से उद्यमशील होता है॥

**स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता द्विस्तावत्पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता-  
ऽदित्यानामेव तावदाधिपत्यःस्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥**

वह सूर्य जब तक दक्षिण भाग से उदित होता और उत्तर भाग से अस्त होता है, उससे दुगुने समय तक पश्चिम भाग से उदित होता और पूर्व भाग से अस्त होता है। उतने समय तक वह (साधक) आदित्यगणों के ही अधिकार एवं स्वाराज्य को प्राप्त होता है॥ ४॥

## ॥ नवमः खण्डः ॥

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन न वै देवा अश्रन्ति न  
पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

यह जो अत्यन्त कृष्ण रूप चतुर्थ अमृत है, मरुदग्ण सोमदेव के नेतृत्व में उसमें जीवन धारण करते हैं। वे देवगण न तो खाते हैं, न पीते हैं, वे इस अमृत को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं॥ १ ॥

**त एतदेव रूपमभिसंविशान्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥**

वे इस रूप को ध्यान में केन्द्रित कर अक्रिय (ध्यानस्थ) होते हैं और इसी से सक्रिय अथवा उद्यमशील भी होते हैं॥ २ ॥

**स य एतदेवममृतं वेद मरुतामेवैको भूत्वा सोमेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स  
एतदेव रूपमभिसंविशान्त्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥**

जो इस प्रकार इस अमृत रूप को जानता है, वह मरुदग्णों में से कोई एक होकर सोमदेव के नेतृत्व में इस अमृत रूप को देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूप को ध्यान में केन्द्रित कर अक्रिय हो जाता है तथा इसी से सक्रिय भी होता है॥ ३ ॥

**स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता द्विस्तावदुत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता  
मरुतामेव तावदाधिपत्यः स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥**

वह आदित्य जब तक अपने पश्चिम भाग से उदित होता और पूर्व से अस्त होता है, उससे दुगुने समय तक वह उत्तरभाग से उदित होता और दक्षिण से अस्त होता है। उतने समय तक वह (साधक) मरुदग्ण के ही अधिकार और स्वाराज्य को प्राप्त करता है॥ ४ ॥

## ॥ दशमः खण्डः ॥

अथ यत्पञ्चमममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन न वै देवा अश्रन्ति न  
पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

आदित्य के मध्य संचरित - स्पन्दित होता हुआ जो पंचम अमृत है, साध्यगण देव ब्रह्मा के नेतृत्व में उसमें जीवन धारण करते हैं, वे देवगण न तो खाते हैं, न पीते हैं, वे इस अमृत रूप को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं॥ २ ॥

**त एतदेव रूपमभिसंविशान्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥**

वे इस रूप को ध्यान में केन्द्रित कर ही अक्रिय (ध्यानस्थ) हो जाते हैं और इसीसे सक्रिय भी हो जाते हैं॥

स य एतदेवममृतं वेद साध्यानामेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेनैतदेवामृतं हृष्ट्वा तृप्यति  
स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

जो साधक इस प्रकार इस अमृत को जानता है, वह साध्यगणों में से एक होकर देव ब्रह्मा के नेतृत्व में इस अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूप को ध्यान में केन्द्रित कर अक्रिय हो जाता है और इसी से वह सक्रिय भी हो जाता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता द्विस्तावदूर्ध्वमुदेतावार्गास्तमेता  
साध्यानामेव तावदाधिपत्यःस्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

वह आदित्य जब तक अपने उत्तर भाग से उदित होकर दक्षिण से अस्त होता है, उससे दुगुने समय तक अपने ऊर्ध्व भाग से उदित होता और नीचे के भाग से अस्त होता है, उतने समय तक वह साधक साध्य गणों के अधिकार और स्वाराज्य को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

## ॥ एकादशः खण्डः ॥

अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता तदेष श्रोकः ॥ १ ॥

इसके पश्चात् उस उच्च स्थिति में वह (आदित्य या ज्ञान) न तो उदित होता है, न अस्त होता है, बल्कि वह अकेला ही मध्य में स्थित रहता है। उस विषय में यह श्रोक है ॥ १ ॥

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन । देवास्तेनाहः सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति ॥ २ ॥

यह सुनिश्चित है कि उस (ब्राह्मी) स्थिति में (सूर्य या ज्ञान का) न कभी अस्त होता है और न उदित होता है। हे देवगण! हम इस सत्य के द्वारा उस ब्रह्म (सृष्टि व्यवस्था) के विपरीत न हों ॥ २ ॥

[ यहाँ जिस आदित्य का वर्णन हो रहा है, वह दृश्यमान सूर्य से भिन्न सर्वत्र संव्याप्त, स्वप्रकाशित तत्त्व है। इसका स्पष्टीकरण छान्दो० के ८.६.१-२ में विशेष रूप से हुआ है। ]

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृदिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद ॥

इस प्रकार जो (साधक) इस ब्रह्मोपनिषद् (ब्रह्म के निकटवर्ती ज्ञान) को जानता है, उसके लिए (सूर्य या ब्रह्म) न तो उदित होता है, न अस्त होता है। वह सर्वदा दिन में (प्रकाश में) ही रहता है ॥ ३ ॥

तद्वैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यस्तद्वैतदुदालकायारुणये  
ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच ॥ ४ ॥

यह ब्रह्मज्ञान ब्रह्माजी ने प्रजापति से कहा था, देव प्रजापति ने मनु से कहा और मनु ने प्रजा के लिए अभिव्यक्त किया था। उदालक ऋषि को उनके पिता ने अपने ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण इस ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया था ॥ ४ ॥

इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्प्रणाव्याय वान्तेवासिने ॥ ५ ॥

इस ब्रह्मज्ञान का उपदेश पिता अपने ज्येष्ठ पुत्र को अथवा आचार्य अपने सुयोग्य शिष्य को करे ॥ ५ ॥

नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्विः परिगृहीतां धनस्य पूर्णा दद्यादेतदेव ततो  
भूय इत्येतदेव ततो भूय इति ॥ ६ ॥

आचार्य अन्य किसी से इसका उपदेश न करे। भले ही उन्हें समुद्र से परिवेष्टित, धन से परिपूर्ण सम्पूर्ण पृथ्वी ही क्यों न प्राप्त हो जाय, क्योंकि यह ब्रह्मज्ञान उस धनैश्वर्य से अधिक बढ़कर है ॥ ६ ॥

## ॥ द्वादशः खण्डः ॥

गायत्री वा इदः सर्वं भूतं यदिदं किंच वाग्वै गायत्री वाग्वा इदः सर्वं भूतं गायति च  
त्रायते च ॥ १ ॥

गायत्री ही यह सब भूत (दृश्यमान) है। जो कुछ भी जगत् में प्रत्यक्ष दृश्यमान है, वह गायत्री ही है। वाणी ही गायत्री है और वाणी ही सम्पूर्ण भूत रूप है। गायत्री ही सब भूतों का गान करती है और उनकी रक्षा करती है ॥ १ ॥

या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिव्यस्याः हीदः सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव  
नातिशीयते ॥ २ ॥

जो वह गायत्री है, वह सर्वभूत रूप है, वही पृथ्वी है, क्योंकि इसी में सर्वभूत अवस्थित हैं और इसका वे कभी उल्लंघन नहीं करते हैं ॥ २ ॥

या वै सा पृथिवीयं वाव सा यदिदमस्मिन्युरुषे शरीरमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता  
एतदेव नातिशीयन्ते ॥ ३ ॥

जो भी यह पृथ्वी है, वह प्राण रूप गायत्री ही है, जो पुरुष के शरीर में समाहित है, क्योंकि इसी में वे प्राण अवस्थित हैं और इस शरीर का वे उल्लंघन नहीं करते ॥ ३ ॥

यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे हृदयमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता  
एतदेव नातिशीयन्ते ॥ ४ ॥

जो भी पुरुष के शरीर में अवस्थित है, वही अन्तःहृदय में स्थित है, क्योंकि इसी में (अन्तःहृदय में) वे प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं और इस हृदय का वे उल्लंघन नहीं करते ॥ ४ ॥

सैषा चतुष्पदा षड्विद्या गायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तम् ॥ ५ ॥

वह गायत्री चार पदों वाली तथा छः प्रकार की है। वह वैदिक ऋचाओं (मन्त्रों) में अभिव्यक्त हुई है ॥ ५ ॥  
[ अधिकांश आचार्यों ने इस मन्त्र के अर्थ की संगति गायत्री महामंत्र के साथ बिठाने का प्रयास किया है। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि यहाँ उसका स्वरूप एक मन्त्र में नहीं, मन्त्रों में प्रकट होने की बात कही गयी है। इसलिए अर्थ की संगति गायत्री मंत्र के स्थान पर गायत्री प्राण विद्या से बिठानी चाहिए। वही वेद मन्त्रों में प्रकट हुई है। चार वेद उसके चार चरण हैं। वह छः प्रकार की षट् सम्पत्तियुक्त अथवा छः दिशा (पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊपर तथा नीचे) से प्रवाहित होने वाली है। ]

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाः पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति ॥

गायत्री रूप में व्यक्त परब्रह्म की यह (वेद मन्त्रों में वर्णित) महिमा है, परन्तु वह विराट् पुरुष उससे भी बड़ा है। यह समस्त भूतों से विनिर्मित प्रत्यक्ष जगत् उसका ही एक पाद है, उसके शेष तीन पाद अमृत स्वरूप प्रकाशमय आत्मा में अवस्थित हैं ॥ ६ ॥

यद्वै तद्ब्रह्मेतीदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्धा  
पुरुषादाकाशः ॥ ७ ॥ अयं वाव स योऽयमन्तःपुरुष आकाशो यो वै सोऽन्तःपुरुष  
आकाशः ॥ ८ ॥ अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति  
पूर्णामप्रवर्तिनीः श्रियं लभते य एवं वेद ॥ ९ ॥

वह जो विराट ब्रह्म है, वह पुरुष के बहिरंग आकाश रूप में है और जो भी वह पुरुष के बहिरंग आकाश रूप में है, वही पुरुष के अन्तरङ्ग आकाश रूप में है। जो भी पुरुष के अन्तरङ्ग आकाश रूप में है, वही पुरुष के अन्तःहृदय के अन्तरङ्ग आकाश रूप में है। वह अन्तरङ्ग आकाश सर्वदा पूर्ण और अपरिवर्तनीय (नित्य) है। जो साधक इस प्रकार उस ब्रह्म स्वरूप को जानता है, वह सर्वदा पूर्ण और अपरिवर्तनीय (नित्य) सम्पदाएँ (विभूतियाँ) प्राप्त करता है ॥ ७-९ ॥

## ॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः स योऽस्य प्राइसुषिः स प्राणस्तच्यक्षुः स आदित्यस्तदेतत्तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥ १ ॥

उस अन्तःहृदय के पाँच देवों से सम्बन्धित पाँच विभाग हैं। जो इसका पूर्ववर्ती विभाग है, वह प्राण है, वह चक्षु है, वह आदित्य है, वह तेजस् है और वह अन्नादि है। इनकी उपासना करने योग्य है। जो साधक इस प्रकार जानकर इनकी उपासना करता है, वह तेजस्वी और अन्न की शक्ति से युक्त होता है ॥ १ ॥

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रः स चन्द्रमास्तदेतच्छ्रीश्च यशश्वेत्युपासीत श्रीमान्यशास्वी भवति य एवं वेद ॥ २ ॥

जो इसका दक्षिणवर्ती विभाग है, वह व्यान है, श्रोत्र है, चन्द्रमा है, श्री-सम्पदा है एवं यश है। इनकी उपासना करने योग्य है। जो साधक इस प्रकार जानकर इनकी उपासना करता है, वह विभूतिवान् और यशस्वी होता है ॥ २ ॥

अथ योऽस्य प्रत्यङ्ग सुषिः सोऽपानः सा वाक् सोऽग्निस्तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

जो इसका पश्चिमी विभाग है, वह अपान है। वह वाणी है, वह अग्नि है, वह ब्रह्मतेज है एवं वह अन्नादि है। इनकी उपासना करने योग्य है। जो साधक इस प्रकार जानकर इनकी उपासना करता है, वह ब्रह्मतेज एवं अन्न की शक्ति से युक्त होता है ॥ ३ ॥

अथ योऽस्योदङ्ग सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यस्तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्वेत्युपासीत कीर्तिमान्व्युष्टिमान्भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

जो इसका उत्तरी विभाग है, वह समान है। वह मन है, वह पर्जन्य है, वह कीर्ति और वही व्युष्टि (शारीरिक आकर्षण) है। इनकी उपासना करने योग्य है। जो साधक इस प्रकार जानकर इनकी उपासना करता है, वह कीर्तिमान् और व्युष्टिमान् (कान्तियुक्त काया वाला) होता है ॥ ४ ॥

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्वेत्युपासीतौजस्वी महस्वान्भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

इसका जो ऊर्ध्व विभाग है, वह उदान है। वह वायु है, वह आकाश है, वह ओज है और वही महः है। इनकी उपासना करने योग्य है। जो साधक इस प्रकार जानकर इनकी उपासना करता है, वह ओजस्वी और महस्वान् (महानतायुक्त) होता है ॥ ५ ॥

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः स य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेदास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्ग लोकं य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेद ॥ ६ ॥

वे पाँच ब्रह्मपुरुष स्वर्गलोक के द्वारपाल हैं। जो पुरुष स्वर्गलोक के द्वारपालों इन पञ्च ब्रह्मपुरुषों को जानता है, उसके कुल में वीर बालक उत्पन्न होता है और वह स्वर्गलोक को प्राप्त करने वाला होता है। अतः स्वर्गलोक के द्वारपालों इन पाँच ब्रह्मपुरुषों को जानकर इनकी उपासना करने योग्य है ॥ ६ ॥

**अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टिः ॥ ७ ॥**

जो इस स्वर्गलोक से ऊपर यह परम ज्योति प्रकाशित होती है, जो इस सम्पूर्ण विश्व के पृष्ठ पर सबके ऊपर प्रकाशित होती है, वही ज्योति पुरुष की अन्तः ज्योति के सदृश है ॥ ७ ॥

**यत्रैतदस्मिज्ञरीरे सःस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति तदेतददृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ ८ ॥**

उस ज्योति के दर्शन का उपाय यह है कि स्पर्श द्वारा शरीर में उष्णता का ज्ञान होता है और उसके श्रवण का उपाय यह है कि कानों के मूँदने से रथ ध्वनि, बैल का डकारना और प्रदीप अग्नि के शब्द के सदृश निनाद होता है, वह ज्योति दर्शनीय और श्रवणीय है। उसकी इस प्रकार उपासना करने योग्य है। जो साधक इस प्रकार जानकर उसकी उपासना करता है, वह शोभावान् और कीर्तिवान् होता है ॥ ८ ॥

## ॥ चतुर्दशः खण्डः ॥

**सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत । अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिंलोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ॥ १ ॥**

यह सम्पूर्ण जगत् निश्चय ब्रह्मस्वरूप है, यह उसी से उत्पन्न होता, उसी में लय होता, उसी से संचालित होता है। राग-द्वेष से दूर शान्त भाव से उसी की उपासना करनी चाहिए। निश्चय ही पुरुष संकल्पमय है। इस लोक में पुरुष जैसे संकल्प धारण करता है, वैसा ही मरने के बाद होता है, अतः पुरुष को सत्संकल्प करने चाहिए ॥ १ ॥

**मनोमयः प्राणशरीरो भासूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ॥ २ ॥**

वह परमात्मा प्राणस्वरूप, मनोमय शरीर वाला, देवीयमान, सत्संकल्पवान्, आकाश सदृश विराट् स्वरूप वाला, सम्पूर्ण जगत् का रचयिता, सम्पूर्ण कामनाओं वाला, सम्पूर्ण गन्ध एवं रस सम्पन्न, सर्वत्र संव्यास, वाणी रहित तथा भ्रमशून्य है ॥ २ ॥

**एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्वीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकृतण्डुलाद्वा एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायामृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥ ३ ॥**

हृदय गुहा में अवस्थित यह आत्मा धान से, जौ से, सरसों से, श्यामक (साँवाँ) से या श्यामाकृतण्डुल से भी सूक्ष्म है तथा हृदय गुहा में स्थित यह आत्मा पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक या इन सब लोकों से भी विराट् है ॥ ३ ॥

**सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्मान्तर्हृदय एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति यस्य स्यादद्वा न विचिकि-त्पास्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः ॥ ४ ॥**

जो सम्पूर्ण जगत् के रचयिता, सम्पूर्ण कामनाओं वाला, सम्पूर्ण गन्ध एवं रस से सम्पन्न, सर्वत्र संव्यास, वाणी रहित तथा भ्रमशून्य है, वह आत्मा हृदय गुहा में अवस्थित है, यही ब्रह्म है। शरीर छोड़कर जाने में हम इसी को प्राप्त होंगे, ऐसा जिसका निश्चय है और इसमें वह संशय नहीं करता, तो वह निश्चय ही ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त कर लेता है, ऐसा शापिडल्य का कथन है ॥ ४ ॥

## ॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

**अन्तरिक्षोदरः** कोशो भूमिर्बुधो न जीर्यति दिशो ह्यस्य स्त्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलः  
स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन्विश्वमिदः श्रितम् ॥ १ ॥

वह कोश जिसका उदर अन्तरिक्ष है, जिसका मूल पृथ्वी है, जो कभी जीर्ण नहीं होता। दिशाएँ इसके कोणों के रूप में हैं, आकाश इसका ऊपर का छिद्र है। वह कोश वसुधान (वसु=प्राणों की स्थापना का स्थल) है। उसी में यह सम्पूर्ण विश्व अवस्थित है ॥ १ ॥

तस्य प्राची दिक् जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची सुभूता नामोदीची  
तासां वायुर्वत्सः स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदः रोदिति सोऽहमेतमेवं वायुं  
दिशां वत्सं वेद मा पुत्ररोदः रुदम् ॥ २ ॥

उस कोश की पूर्व दिशा 'जुहू' नाम की है, दक्षिण दिशा 'राज्ञी' नाम की है तथा उत्तर दिशा 'सुभूता' नाम की है। उन दिशाओं के पुत्र रूप वायु हैं। इस प्रकार जो पुरुष वायु को दिशापुत्र के रूप में जानता है, वह पुत्र प्राप्ति के निमित्त रोदन नहीं करता। चौंकि हम दिशाओं के पुत्ररूप में वायु को जानते हैं, अतः हम पुत्र प्राप्ति के निमित्त न रोएँ ॥ २ ॥

**अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना प्राणं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना भूः प्रपद्येऽमुना-**  
**अमुनाऽमुना भुवः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना स्वः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना ॥ ३ ॥**

मैं पुत्र तथा परिवार के साथ अक्षय (अन्नमय) कोश के आश्रय में जाता हूँ। मैं पुत्र तथा परिवार के साथ प्राणमय कोश के आश्रय में जाता हूँ। मैं पुत्र तथा परिवार के साथ भूः अर्थात् मनोमय कोश के आश्रय में जाता हूँ। मैं पुत्र तथा परिवार के साथ भुवः अर्थात् विज्ञानमय कोश के आश्रय में जाता हूँ। मैं पुत्र तथा परिवार के साथ स्वः अर्थात् आनन्दमय कोश के आश्रय में जाता हूँ ॥ ३ ॥

स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति प्राणो वा इदः सर्वं भूतं यदिदं किंच तमेव तत्प्रापत्तिः ॥ ४ ॥

जब हमने कहा कि हम प्राण के आश्रय में हैं, तो इसका आशय यह है कि ये समस्त भूत (तत्त्व)प्राण ही हैं, हम उसी के आश्रय में हैं ॥ ४ ॥

**अथ यदवोचं भूः प्रपद्य इति पृथिवीं प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्ये इत्येव तदवोचम् ॥ ५ ॥**

जब हमने कहा कि हम भूः के आश्रय में हैं, तो इसका आशय यह है कि हम पृथ्वी के आश्रय में हैं, हम अन्तरिक्ष के आश्रय में हैं, हम द्युलोक के आश्रय में हैं ॥ ५ ॥

**अथ यदवोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्निं प्रपद्ये वायुं प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ॥ ६ ॥**

तदनन्तर जब हमने कहा कि हम भुवः के आश्रय में हैं, तो इसका आशय यह है कि हम अग्नि के आश्रय में हैं, हम वायु के आश्रय में हैं, हम आदित्य के आश्रय में हैं ॥ ६ ॥

अथ यदवोचः स्वः प्रपद्य इत्यग्वेदं प्रपद्ये यजुर्वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य  
इत्येव तदवोचं तदवोचम् ॥ ७ ॥

तथा जब हमने कहा कि हम स्वः के आश्रय में हैं, तो इसका आशय यह है कि हम ऋग्वेद के आश्रय में हैं, हम यजुर्वेद के आश्रय में हैं तथा हम सामवेद के आश्रय में हैं। यहाँ यही कहा गया है ॥ ७ ॥

### ॥ षोडशः खण्डः ॥

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनं चतुर्विंशत्यक्षरा  
गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदः सर्वं  
वासयन्ति ॥ १ ॥

सुनिश्चित रूप से पुरुष ही यज्ञ है। पुरुष के जो प्रथम चौबीस वर्ष हैं, वे प्रातःसवन हैं, क्योंकि गायत्री चौबीस अक्षरों वाली है और प्रातःसवन गायत्री छन्द से सम्बन्धित है। वसुगण प्रातःसवन के अनुगामी हैं। प्राण ही वसुगण हैं, क्योंकि ये सबको आवास देने वाले हैं ॥ १ ॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनः  
सवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्घैव तत एत्यगदो ह  
भवति ॥ २ ॥

यदि इस प्रातःसवन की आयु (चौबीस वर्ष की अवधि) में कोई कष्ट उत्पन्न हो, तो इस प्रकार कहे- प्राणरूप वसुगण हमारे प्रातःसवन को माध्यन्दिन सवन के साथ एकीभूत कर दें, जिससे हम प्राणरूप वसुगणों के मध्य में ही यज्ञ करते हुए उनसे विमुख न हों (संयुक्त रहें)। ऐसा कहने पर वह उस कष्ट से छूटकर नीरोग हो जाता है ॥ २ ॥

अथ यानि चतुश्त्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनः सवनं चतुश्त्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप्  
त्रैष्टुभं माध्यन्दिनः सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदः सर्वः  
रोदयन्ति ॥ ३ ॥

तदनन्तर जो आगे- चौवालीस वर्ष की अवधि है, वह माध्यन्दिन सवन है। त्रिष्टुप् छन्द चौवालीस अक्षरों का है और माध्यन्दिन सवन त्रिष्टुप् छन्द से सम्बन्धित है। रुद्रगण माध्यन्दिन सवन के अनुगामी हैं। निश्चय ही प्राण रुद्र हैं, क्योंकि ये सम्पूर्ण प्राणियों को रुलाते हैं ॥ ३ ॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनः सवनं  
तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्घैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ ४ ॥

इस माध्यन्दिन सवन की आयु में कोई कष्ट उत्पन्न हो, तो इस प्रकार कहे- प्राणरूप रुद्रगण हमारे माध्यन्दिन सवन को तृतीय सवन के साथ एकीभूत कर दें, जिससे हम प्राणरूप रुद्रगणों के मध्य यज्ञ करते हुए उनसे विमुख न हों। ऐसा कहने पर वह उस कष्ट से छूटकर नीरोग हो जाता है ॥ ४ ॥

अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तृतीयसवनमष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती जागतं  
तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदः सर्वमाददते ॥ ५ ॥

अब जो अड़तालीस वर्ष की अवधि है, वह तृतीय सवन है। जगती छन्द अड़तालीस अक्षरों का है तथा तृतीय सवन जगती छन्द से सम्बन्धित है। आदित्यगण इस तृतीय सवन के अनुगामी हैं। प्राण ही आदित्यगण हैं, क्योंकि ये ही सम्पूर्ण विषयों को ग्रहण करते हैं ॥ ६ ॥

**तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवन-मायुरनुसन्तनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्घैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥ ६ ॥**

इस तृतीय सवन की आयु में यदि कोई कष्ट उत्पन्न हो तो इस प्रकार कहे- प्राणरूप आदित्यगण हमारे तृतीय सवन को सम्पूर्ण आयु के साथ एकीभूत कर दें, हम प्राणरूप आदित्यगणों के मध्य यज्ञ करते हुए उनसे विमुख न हों। ऐसा कहकर वे उस कष्ट से मुक्त होकर नीरोग हो जाते हैं ॥ ६ ॥

**एतद्व स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्प्रह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद ॥ ७ ॥**

इस उपासना को जानने वाले ऐतरेय महिदास ने कहा था- हे रोग! तू मुझे क्यों सन्तास करता है, मैं निश्चय ही इससे मृत्यु को नहीं प्राप्त कर सकता। ऐसा कहकर वे रोग से मुक्ति पा जाते थे और एक सौ सोलह वर्ष तक जीवित रहे। जो साधक इस प्रकार इस उपासना को जानता है, वह एक सौ सोलह वर्ष तक जीवित रहता है ॥ ७ ॥

## ॥ सप्तदशः खण्डः ॥

**स यदशिशिष्टति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः ॥ १ ॥**

जो साधक खाने एवं पीने की इच्छा तो करता है, पर जो इसमें आसक्त नहीं होता, यही उसकी दीक्षा है ॥ १ ॥

**अथ यदश्राति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति ॥ २ ॥**

फिर जो खाता है, जो पीता है और जो उसमें प्रसन्न होता है, वह उपसदों का स्थान प्राप्त करता है ॥ २ ॥

**अथ यद्वसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति स्तुतशास्त्रैरेव तदेति ॥ ३ ॥**

तथा जो हँसता है, जो भक्षण करता है एवं जो मैथुन करता है, वह स्तुति के स्तोत्रों को प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

**अथ यत्पो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः ॥ ४ ॥**

तथा जो तप, दान, सरल स्वभाव, अहिंसा और सत्यवचन से युक्त हैं, वे उस साधक की दक्षिणा हैं ॥ ४ ॥

**तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टुति पुनरुत्पादनमेवास्य तन्मरणमेवास्यावभृथः ॥ ५ ॥**

प्रसूता माता को लोग कहते हैं- यह प्रसूता होगी अथवा यह प्रसूता हुई, वह काल पुरुष का पुनर्जन्म है तथा मृत्यु अवभृथ स्नान के सदृश है ॥ ५ ॥

**तद्वैतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्वयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसःशितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः ॥ ६ ॥**

घोर आङ्गिरस ऋषि ने देवकीपुत्र भगवान् कृष्ण को यह तत्त्वदर्शन समझाया, जिससे कि वे अन्य उपासनाओं के सम्बन्ध में पिपासा मुक्त हो गये थे- साधक को मृत्युकाल में इन तीन मंत्रों का स्मरण कराना चाहिए- १. तुम अक्षय अनश्वर स्वरूप हो, २. तुम अच्युत- अटल पतित न होने वाले हो, ३. तुम अतिसूक्ष्म प्राणस्वरूप हो। इस विषय में दो ऋचाएँ निर्दिष्ट हैं ॥ ६ ॥

आदित्प्रलस्य रेतसः । उद्वयन्तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरःस्वः पश्यन्त उत्तरं देवं  
देवत्रा सूर्यमग्न्म ज्योतिरुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति ॥ ७ ॥

[ प्रथम ऋचा पूर्णतः इस प्रकार है- 'आदित्प्रलस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम् । परो यदिध्यते दिवि ।' ( आनन्दगिरिकृत टीका से ) इसका अर्थ इस प्रकार है- उस पुरातन पुरुष का तेज ही सर्वत्र संव्यास है । उसी का प्रकाश हम सर्वत्र संव्यास देखते हैं । वह परम पुरुष दीसिमान् होकर समस्त पदार्थों में तेजरूप में प्रकट होता है । दूसरी ऋचा 'उद्वयं तमसस्परि'....., जो यहाँ प्रस्तुत है, का अर्थ इस प्रकार है- ]

'तमित्रा ( अज्ञानरूप ) को दूर करने वाले परब्रह्म के प्रकाश को देखते हुए और आत्म ज्योति को देखते हुए हम देवों में देदीप्यमान सूर्य रूप सर्वोत्तम ज्योति को प्राप्त हुए ॥ ७ ॥

## ॥ अष्टादशः खण्डः ॥

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं  
चाधिदैवतं च ॥ १ ॥

मन ब्रह्मस्वरूप है- इस प्रकार उपासना करे । यह आध्यात्मिक विवेचन है । आकाश ब्रह्मस्वरूप है- इस प्रकार उपासना करे- यह आधिदैविक विवेचन है । इस प्रकार यह आध्यात्मिक और आधिदैविक दोनों का विवेचन हुआ ॥ १ ॥

तदेतच्यतुष्याद्ब्रह्म । वाक् पादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्म-  
मथाधिदैवतमग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद इत्युभयमेवादिष्टं  
भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च ॥ २ ॥

वह ( मनोमय ब्रह्म ) चार पादों वाला है । वाणी, प्राण, चक्षु और श्रोत्र- ये चार पाद हैं । यह आध्यात्मिक विवेचन हुआ । इसी प्रकार आधिदैविक विवेचन में आकाशरूप ब्रह्म चार पादों का है । अग्नि, वायु, आदित्य और दिशाएँ- ये चार पाद हैं । इस प्रकार यह आध्यात्मिक और आधिदैविक दोनों का विवेचन हुआ ॥ २ ॥

वागेव ब्रह्मणश्तुर्थः पादः । सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति  
च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ३ ॥

वाणी ही मनोमय ब्रह्म का चतुर्थ पाद है । वह अग्निरूप ज्योति से दीसिमान् और तेजस्वी होती है । जो साधक इस प्रकार जानता है, वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेज के द्वारा देदीप्यमान और तेजस्वी होता है ॥ ३ ॥

प्राण एव ब्रह्मणश्तुर्थः पादः । स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च  
तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ४ ॥

प्राण ही मनोमय ब्रह्म का चतुर्थ पाद है । वह वायुरूप ज्योति से दीसिमान् और तेजस्वी होता है । जो साधक इस प्रकार जानता है, वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेज के द्वारा देदीप्यमान और तेजस्वी होता है ॥ ४ ॥

चक्षुरेव ब्रह्मणश्तुर्थः पादः स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च  
तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ५ ॥

चक्षु ही मनोमय ब्रह्म का चतुर्थ पाद है । वह आदित्यरूप ज्योति से दीसिमान् और तेजस्वी होता है । जो साधक इस प्रकार जानता है, वह कीर्ति, यश और ब्रह्मवर्चस से देदीप्यमान और तेजस्वी होता है ॥ ५ ॥

श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स दिग्भिर्ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद य एवं वेद ॥ ६ ॥

श्रोत्र ही मनोमय ब्रह्म का चतुर्थ पाद है। वह दिशाओं रूपी ज्योति से दीसिमान् और तेजस्वी होता है। जो साधक इस प्रकार जानता है, वह कीर्ति, यश और ब्रह्मवर्चस से देदीप्यमान और तेजस्वी होता है ॥ ६ ॥

### ॥ एकोनविंशः खण्डः ॥

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवेदमग्र आसीत्तसदासीत्तसमभव-  
त्तदाण्डं निरवर्तत तत्संवत्सरस्य मात्रामशायत तन्निरभिद्यत ते आण्डकपाले रजतं च  
सुवर्णं चाभवताम् ॥ १ ॥

आदित्य ही ब्रह्म है, ऐसा विवेचन मिलता है। उसी की विविध व्याख्याएँ की जाती हैं। आदि  
में यह असत्-रूप (अदृश्य) ही था, तदनन्तर वह सत्-रूप (प्रत्यक्ष-प्रकट) हुआ। वह विकसित  
होकर अण्डे में परिवर्तित हुआ। कालान्तर में वह अण्ड विकसित होकर फूटा। उसके दो खण्ड  
हुए- एक रजत, दूसरा स्वर्ण ॥ १ ॥

तद्यद्रजतः सेयं पृथिवी यत्सुवर्णः सा द्यौर्यज्जरायु ते पर्वता यदुल्बः समेघो नीहारो  
या धमनयस्ता नद्यो यद्वास्तेयमुदकः स समुद्रः ॥ २ ॥

उनमें जो खण्ड रजत रूप प्रकट हुआ, वह यह पृथ्वी है और जो स्वर्णरूप खण्ड प्रकट हुआ, वह  
द्युलोक है। उस अण्डे का जो जरायु भाग था, वे पर्वत हैं, जो उल्लभ भाग था, वह मेघयुक्त कुहरा है, जो  
धमनियाँ थीं, वे नदियाँ हैं तथा जो मूत्राशय का जल था, वह समुद्र है ॥ २ ॥

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यस्तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन्त् सर्वाणि च  
भूतानि च सर्वे च कामास्तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा उलूलवोऽनूत्तिष्ठन्ति  
सर्वाणि च भूतानि सर्वे चैव कामाः ॥ ३ ॥

उस अण्डे से जो उत्पन्न हुआ, वह आदित्य ही है। उससे विस्फोट जन्य तीव्र घोष उत्पन्न हुआ, उसी  
से सम्पूर्ण प्राणी और सम्पूर्ण भोग-साधन उत्पन्न हुए हैं। इसीलिए आदित्य के उदय और अस्त होने पर  
तीव्र घोष होता है और समस्त प्राणी एवं सम्पूर्ण भोग-साधन विकसित होते हैं ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनः साधवो घोषा आ च  
गच्छेयुरुप च निप्रेडेरन्निप्रेडेरन् ॥ ४ ॥

इस प्रकार जो 'आदित्य ही ब्रह्म है', यह जानकर उपासना करता है, इसके समीप सुखप्रद घोष सुनाई  
देते हैं और उसे सुख प्रदान करते हैं, सन्तोष प्रदान करते हैं ॥ ४ ॥



## ॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

### ॥ प्रथमः खण्डः ॥

**जानश्रुतिर्हं पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस स ह सर्वत आवसथान्मापयांचक्रे सर्वत एव मेऽत्यन्तीति ॥ १ ॥**

जनश्रुत राजा के प्रपौत्र श्रद्धापूर्वक बहुत धन दान किया करते थे। उनके यहाँ बहुत अन्न पकाया जाता था। उन्होंने अपने राज्य में अनेक विश्रामालय बनवा दिये थे, ताकि लोग वहाँ ठहरकर भोजन ग्रहण कर सकें ॥ १ ॥

**अथ ह हःसा निशायामतिपेतुस्तद्वैवः हःसो हःसमभ्युवाद हो होऽयि भलाक्ष भलाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति ॥ २ ॥**

फिर एक बार रात्रि के समय दो हंस उस राज्य के ऊपर से उड़ते हुए जा रहे थे, उनमें से एक हंस ने दूसरे से कहा- हे मन्द दृष्टि! जनश्रुत राजा के प्रपौत्र का तेज द्युलोक के सदृश व्यास हो रहा है। तू उसे स्पर्श न कर, वह तुझे भस्म न कर दे ॥ २ ॥

**तमु ह परः प्रत्युवाच कम्बर एनमेतत्सन्तः सयुग्वानमिव रैक्षमात्थेति यो नु कथः सयुग्वा रैक्ष इति ॥ ३ ॥**

दूसरे हंस ने कहा - अरे तुम किस महत्वाकांक्षी राजा के लिए सम्मानजनक शब्द कहते हो। क्या यह गाड़ी वाले रैक्ष के सदृश है? इस पर पहले वाले हंस ने कहा- यह गाड़ी वाला रैक्ष कौन है? ॥ ३ ॥

**यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनः सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ॥ ४ ॥**

जिस प्रकार द्यूत क्रीड़ा में पुरुष कृतसंज्ञक पासे को जीतकर सम्पूर्ण निम्र पासे अपने अधीन कर लेता है, उसी प्रकार राजा जो कुछ सत्कर्म करता है, वह सब रैक्ष को प्राप्त हो जाता है। वह रैक्ष जिस (गूढ़ तत्त्व दर्शन) को जानता है, उसे कोई नहीं जानता। उनके विषय में मैं इतना ही जानता हूँ ॥ ४ ॥

**तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव स ह संजिहान एव क्षत्तारमुवाचाङ्गारे ह सयुग्वानमिव रैक्षमात्थेति यो नु कथः सयुग्वा रैक्ष इति ॥ ५ ॥**

हंसों की वार्ता को जनश्रुत के प्रपौत्र ने सुना। प्रातःकाल उठते ही उन्होंने स्तुतिकर्ता सेवकों से कहा- क्या तुम मेरी स्तुति गाड़ी वाले रैक्ष के समान करते हो? सेवकों ने कहा- यह गाड़ी वाला रैक्ष कौन है? ॥ ५ ॥

**यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनः सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ॥ ६ ॥**

जिस प्रकार द्यूतक्रीड़ा में पुरुष कृत नामक पासे को जीतकर अन्य सभी निम्र पासे को अपने अधीन कर लेता है, उसी प्रकार राजा जो कुछ सत्कर्म करता है, वह सब रैक्ष को प्राप्त हो जाता है। जो कुछ रैक्ष जानते हैं, उसे कोई और नहीं जानता, ऐसा उनके विषय में मुझसे कहा गया है ॥ ६ ॥

स ह क्षत्तान्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय तः होवाच यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा  
तदेनमच्छेति ॥ ७ ॥

वे सेवक रैक को ढूँढ़ने के पश्चात् वापस लौटकर कहते हैं- ‘उसे नहीं पा सके’। तब राजा ने कहा-  
जहाँ ब्राह्मण की खोज की जाती है, वहाँ उन्हें ढूँढ़ो ॥ ७ ॥

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणमुपोपविवेश तः हाभ्युवाद त्वं नु भगवः  
सयुग्वा रैक इत्यहः ह्यरा ३ इति ह प्रतिज्ञे स ह क्षत्ताऽविदमिति प्रत्येयाय ॥ ८ ॥

उन्होंने एक शक्ट के नीचे खाज खुजाते हुए रैक को देखकर उनसे पूछा- भगवन्! क्या आप ही  
गाड़ी वाले रैक हैं? उनने कहा हाँ मैं ही हूँ। ऐसा जानकर सेवक राजा के पास चले आये ॥ ८ ॥

## ॥ द्वितीयः खण्डः ॥

तदुह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट् शतानि गवां निष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे  
तः हाभ्युवाद ॥ १ ॥

तब राजा जनश्रुत के प्रपौत्र छः सौ गौएँ, एक हार और खच्चरों से खींचा जाने वाला एक रथ लेकर  
रैक के पास गये और बोले ॥ १ ॥

रैकेमानि षट् शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथो नु म एतां भगवो देवताः  
शाधि यां देवतामुपास्म इति ॥ २ ॥

हे रैक! ये छः सौ गौएँ, एक हार और खच्चरों से जुतां एक रथ आपके निमित्त लाया हूँ, इसे  
ग्रहण करें। हे भगवन्! आप जिस देवता की उपासना करते हैं, उसका मुझे उपदेश करें। ऐसा राजा  
ने रैक से कहा ॥ २ ॥

तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्त्विति तदुह पुनरेव जानश्रुतिः  
पौत्रायणः सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे ॥ ३ ॥

उस राजा से रैक ने कहा- हे क्षुद्र! गौएँ, हार और रथ अपने पास रखो। तब जनश्रुत के प्रपौत्र एक  
सहस्र गौएँ, एक हार, खच्चरों से जुता रथ और अपनी कन्या लेकर उनके पास आये ॥ ३ ॥

तः हाभ्युवाद रैकेदः सहस्रं गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथ इयं जायाऽयं ग्रामो  
यस्मिन्नास्सेऽन्वेव मा भगवः शाधीति ॥ ४ ॥

राजा ने रैक से कहा- हे रैक! ये एक हजार गौएँ, यह हार, खच्चरों से जुता रथ, यह पत्नी और यह  
गाँव (जिसमें आप रहते हैं) आप ले लें। हे भगवन्! मुझे ईश्वरीय अनुशासन बतायें ॥ ४ ॥

तस्या ह मुखमुपोदगृह्णनुवाचाजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथा इति ते हैते  
रैक पर्णा नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास तस्मै होवाच ॥ ५ ॥

तब रैक ने उस राजकन्या को विद्या ग्रहण का द्वार समझकर राजा से कहा- ‘हे क्षुद्र! आप ये जो  
कुछ लाए हैं, ये सब गौण हैं; परन्तु विद्या ग्रहण के इस द्वार से आप (प्रसन्न करके) मुझसे उपदेश कराते  
हैं’। इस प्रकार जितने क्षेत्र में वे ‘रैक’ रहते थे, वे सभी गाँव महावृष देश में ‘रैकपर्ण’ के नाम से प्रसिद्ध  
हुए। (इससे प्रसन्न होकर) उन (रैक) ने उस राजा से कहा- ॥ ५ ॥

## ॥ तृतीयः खण्डः ॥

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ॥ १ ॥

वायु ही संवर्ग है। जब अग्नि शान्त होती है, तो वायु में ही समाहित होती है। जब सूर्य अस्त होता है, तो वायु में ही समाहित होता है और जब चन्द्रमा अस्त होता है, तो वायु में ही समाहित हो जाता है ॥

**यदाप उच्छ्वस्यन्ति वायुमेवापियन्ति वायुर्हृष्वैतान्सर्वान्संवृद्धक्त इत्यधिदैवतम् ॥ २ ॥**

जब जल सूखता है, तो वायु में ही समाहित हो जाता है। इस प्रकार वायु ही इन सबको अपने में समाहित कर देने वाला है। यह आधिदैविक उपासना है ॥ २ ॥

**अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणः श्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो हृष्वैतान्सर्वान्संवृद्धक्त इति ॥ ३ ॥**

अब आध्यात्मिक तत्त्व का विवेचन किया जाता है। प्राण ही संवर्ग है। जब साधक सोता है, तब प्राण में ही वागिन्द्रिय समाहित हो जाती है। प्राण में ही चक्षु, श्रोत्र और मन समाहित हो जाते हैं। इस प्रकार प्राण ही इन सबको अपने में समाहित कर लेने वाला है ॥ ३ ॥

**तौ वा एतौ द्वौ संवर्गो वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ॥ ४ ॥**

इस प्रकार मात्र दो ही संवर्ग हैं। देवताओं में वायु संवर्ग है और इन्द्रियों में प्राण संवर्ग है ॥ ४ ॥

**अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे तस्मा उ ह न ददतुः ॥ ५ ॥**

एक समय शौनक कापेय और अभिप्रतारी काक्षसेनि को जब भोजन परोसा जा रहा था, तब एक ब्रह्मचारी ने उनसे भिक्षा माँगी; किन्तु उन्होंने (उसकी पात्रता परखे बिना) भिक्षा नहीं दी ॥ ५ ॥

**स होवाच महात्मनश्तुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन्बहुधा वसन्तं यस्मै वा एतदंतं तस्मा एतत्र दत्तमिति ॥ ६ ॥**

तब उस ब्रह्मचारी ने कहा- भुवनों के स्वामी उन देव प्रजापति ने चार महान् स्वरूपों को अपने में समाहित कर लिया है। हे कापेय! हे अभिप्रतारिन्! विभिन्न स्वरूपों में निवास करने वाले उन देव को मनुष्य नहीं देख पाते और जिसके लिए यह अन्त है, उसे (देव प्रजापति को) ही अन्त नहीं दिया गया ॥ ६ ॥

**तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयायात्मा देवानां जनिता प्रजानाऽहिरण्यदंष्ट्रे बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदनन्नमत्तीति वै वयं ब्रह्मचारिनेदमुपास्महे दत्तास्मै भिक्षामिति ॥ ७ ॥**

उनके कथन का शौनक कापेय मुनि ने विचार किया और ब्रह्मचारी से कहा- जो देवताओं की आत्मा, प्रजाओं के जनक, हिरण्यदंष्ट्र, भक्षणवृत्ति वाले, बुद्धिमान् और महिमावान् हैं, जो दूसरों से न खाये जाने वाले और अन्त न खाने वाले हैं। हे ब्रह्मचारिन्! हम उसी देव की उपासना करते हैं- ऐसा कहकर उन्होंने ब्रह्मचारी को भिक्षा देने का आदेश दिया ॥ ७ ॥

**तस्मा उ ह ददुस्ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश संतस्तत्कृतं तस्मात्सर्वासु दिक्षवन्नमेव दशकृतः सैषा विराङ्गनादी तयेदः सर्व दृष्टः सर्वमस्येदं दृष्टं भवत्यन्नादो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ ८ ॥**

तब उन्होंने उसे भिक्षा दे दी। वह वाणी आदि पञ्च इन्द्रियों से भिन्न है तथा अग्नि, वायु आदि पञ्चभूतों से भी भिन्न सत्ता है। इस प्रकार ये सब संख्या में दस होते हैं। वह विराट् सत्ता ही अन्न का भक्षण करने वाली है। वही सम्पूर्ण जगत् रूप में दृष्ट है। जो ऐसा जानते हैं, उनके द्वारा यह सब दृष्ट होता है और वे अन्न का भक्षण करने वाले होते हैं॥ ८॥

## ॥ चतुर्थः खण्डः ॥

**सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयांचक्रे ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किं गोत्रोन्वहमस्मीति ॥ १ ॥**

सत्यकाम जाबाल ने अपनी माँ जबाला से कहा- हे मातः ! मैं ब्रह्मचारी बनकर गुरुकुल में रहना चाहता हूँ, मुझे बताएँ कि मेरा गोत्र क्या है? ॥ १ ॥

**सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यदोत्रस्त्वमसि ब्रह्मं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यदोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा इति ॥ २ ॥**

जबाला ने कहा- हे तात! तुम जिस गोत्र के हो, उसे मैं भी नहीं जानती। यौवनावस्था में मैं बहुत से अतिथियों की परिचर्या में संलग्न रहती थी। उन्हीं दिनों तुझे प्राप्त किया, तत्पश्चात् तुम्हारे पिता के न रहने पर(उनके दिवंगत हो जाने पर) मैं गोत्र न जान सकी। अतः मैं नहीं जानती कि तुम्हारा गोत्र क्या है? मैं जबाला नाम की हूँ और तुम सत्यकाम नाम के हो, अतः आचार्य से कहो- मैं सत्यकाम जाबाल हूँ॥ २ ॥

**स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति ॥ ३ ॥**

उन्होंने ऋषि हारिद्रुमत गौतम के पास जाकर कहा - हे भगवन् ! मैं आपके पास ब्रह्मचर्य पूर्वक निवास करना चाहता हूँ, इसलिए मैं आपके पास आया हूँ॥ ३ ॥

**तः होवाच किंगोत्रो नु सोम्यासीति स होवाच नाहमेतद्वेद भो यदोत्रोऽहमस्म्यपृच्छं मातरः सा मा प्रत्यब्रवीद्ब्रह्मं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यदोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति सोऽहः सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति ॥ ४ ॥**

गौतम ऋषि ने कहा- हे सोम्य! तुम किस गोत्र के हो ? उनने कहा- हे भगवन् ! मैं किस गोत्र का हूँ, यह मैं नहीं जानता। मैंने अपनी माता से पूछा तो उन्होंने कहा कि मैं बहुत पहले से अतिथियों की सेवा करती रहती थी, जब तुझे प्राप्त किया, तब तुम्हारे पिता के (शीघ्र) न रहने से मैं गोत्र न जान सकी (पूछ सकी)। अतः मैं नहीं जानती कि तुम किस गोत्र के हो ? मेरा नाम जबाला है, तुम्हारा सत्यकाम। अतः मैं सत्यकाम जाबाल हूँ॥ ४ ॥

**तः होवाच नैतद्ब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधः सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणावर्तयेति स ह वर्षगणं प्रोवास ता यदा सहस्रः संपेदुः ॥ ५ ॥**

गौतम ऋषि ने कहा- ऐसी सत्य अभिव्यक्ति ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता। हे सोम्य ! चूँकि तुमने सत्य वचनों का त्याग नहीं किया, अतः तुम समिधा ले आओ, मैं तुम्हारा उपनयन

करुँगा। तब उन्होंने सत्यकाम का उपनयन करके चार सौ कृश एवं अबला गौओं को देकर उनसे कहा- हे सोम्य! तुम इन गौओं को ले जाकर चराना। इन्हें वन में तब तक चराना, जब तक ये सहस्र गौएँ न हो जाएँ। उन गौओं के अनुगामी होकर सत्यकाम ने कहा - हे आचार्य! जब तक ये सहस्र गौएँ न हो जाएँगी तब तक नहीं लौटूँगा। सहस्र संख्यक गौएँ होने तक वे वर्षों वन में भ्रमण करते रहे ॥ ५ ॥

## ॥ पञ्चमः खण्डः ॥

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्राप्ताः सोम्य सहस्रः स्मः प्राप्य न आचार्यकुलम् ॥ १ ॥

एक दिन वृषभ ने सत्यकाम से कहा- हे सत्यकाम! अब हम एक हजार हो गये हैं, हमें आचार्य के पास ले चलो ॥ १ ॥

ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राची दिव्यकला प्रतीची दिव्यकला दक्षिणा दिव्यकलोदीची दिव्यकलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ॥ २ ॥

पुनः वृषभ ने सत्यकाम से कहा- हे सत्यकाम! क्या मैं तुम्हें ब्रह्म का एक पाद बताऊँ? सत्यकाम ने उनसे कहा- हे भगवन्! मुझे अवश्य बताएँ। तब वृषभ ने कहा- पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण ये दिक् कलाएँ हैं। वह 'प्रकाशमान' संज्ञक ब्रह्म इन चारों कलाओं में एक पाद व्याप्त करता है ॥ २ ॥

स य एतमेवं विद्वाः शतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते प्रकाशवानस्मिंलोके भवति प्रकाशवतो ह लोकाङ्गयति य एतमेवं विद्वाः शतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥ ३ ॥

इस प्रकार जानने वाला जो विद्वान् ब्रह्म के प्रकाशवान् स्वरूप की उपासना करता है, वह इस लोक में प्रकाशवान् होता है और प्रकाशवान् लोकों को विजित करता है। इस प्रकार वह विद्वान् जो चतुष्कल पाद की ब्रह्म के प्रकाशमान रूप की उपासना करता है, वह उसी स्वरूप को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

## ॥ षष्ठः खण्डः ॥

अग्निष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयां चकार ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुद्य समिधाधाय पश्चादग्रेः प्राङ्गोपविवेश ॥ १ ॥

उस वृषभ ने उनसे पुनः कहा- ब्रह्म का दूसरा पाद तुम्हें अग्निदेव बताएँगे। सत्यकाम ने गौओं को आचार्य कुल की ओर हाँक दिया। सायंकाल जहाँ हुई, वहीं वे गौओं को रोककर अग्निदेव को प्रज्वलित कर समिधाधान करके अग्नि के पश्चिम में, पूर्व की ओर मुख करके बैठ गये ॥ १ ॥

तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

अग्निदेव ने सत्यकाम को सम्बोधित किया। प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा- जी भगवन्! ॥ २ ॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच पृथिवी कलान्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ॥ ३ ॥

अग्निदेव ने उनसे कहा- हे सोम्य! मैं आपको ब्रह्म का दूसरा पाद बताऊँ? उन्होंने कहा- हे भगवन्! मुझे अवश्य बताएँ। तब अग्निदेव ने कहा- एक कला पृथिवी, दूसरी कला अन्तरिक्ष, तीसरी कला द्युलोक और चौथी कला समुद्र है। हे सोम्य! ब्रह्म का यह चतुष्कल पाद अनन्तवान् संज्ञक है ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वाःश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते ऽनन्तवानस्मिँल्लोके भवत्यनन्तवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाःश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

इस प्रकार जानने वाला जो विद्वान् ब्रह्म के अनन्तवान् संज्ञक चतुष्कल पाद की उपासना करता है, वह इस लोक में अनन्तवान् होता है और अनन्तवान् लोकों को विजित करता है। इस प्रकार ब्रह्म के अनन्तवान् संज्ञक चतुष्कल पाद की उपासना करने वाला विद्वान् ब्रह्म के उसी स्वरूप को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

## ॥ सप्तमः खण्डः ॥

हःसस्ते पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुद्ध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङ्गुयोपविवेश ॥ १ ॥

अग्निदेव ने उनसे कहा- आपको ब्रह्म का तीसरा पाद हंस बताएगा। दूसरे दिन उन्होंने गौओं को आचार्यकुल की ओर हाँक दिया। जहाँ सायंकाल हुई, वहाँ वे गौओं को रोककर अग्नि प्रज्वलित कर समिधाधान करके अग्नि के पश्चिमी ओर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गये ॥ १ ॥

तः हःस उप निपत्याभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

तब हंस ने अग्नि के समीप उत्तर कर सत्यकाम को पुकारा, उन्होंने प्रत्युत्तर दिया- जी भगवन्! ॥ २ ॥

**ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाचाग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम ॥ ३ ॥**

हंस ने उनसे कहा- हे सोम्य! मैं तुम्हें ब्रह्म का तीसरा पाद बताऊँ? सत्यकाम ने कहा- हाँ भगवन्! आप मुझे बताएँ। तब हंस ने उनसे कहा- अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत् - ये चार कलाएँ हैं। हे सोम्य! ब्रह्म का यह चतुष्कल पाद ज्योतिष्मान् नाम का है ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वाःश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ज्योतिष्मानस्मिँल्लोके भवति ज्योतिष्मतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाःश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

इस प्रकार जानने वाला जो विद्वान् ब्रह्म के इस 'ज्योतिष्मान्' संज्ञक चतुष्कल पाद की उपासना करता है, वह इस लोक में ज्योतिष्मान् होता है और ज्योतिष्मान् लोकों को विजित करता है। इस प्रकार ब्रह्म के ज्योतिष्मान् स्वरूप की उपासना करने वाला विद्वान् ब्रह्म के उसी स्वरूप को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

## ॥ अष्टमः खण्डः ॥

**मदगुष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुद्ध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङ्गुयोपविवेश ॥ १ ॥**

हंस ने सत्यकाम से कहा- मदगु (जलपक्षी) तुम्हें ब्रह्म का चौथा पाद बताएगा। अगले दिन उन्होंने गौओं को आचार्य कुल की ओर हाँक दिया। जहाँ सायंकाल हुई, वहाँ वे गौओं को रोककर अग्नि प्रज्वलित कर समिधाधान करके अग्नि के पश्चिमी ओर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गये ॥ १ ॥

तं मदगुरुपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

मदगु ने उनके पास आकर उन्हें पुकारा, तो सत्यकाम ने उत्तर दिया- जी भगवन्! ॥ २ ॥

**ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम ॥ ३ ॥**

तब मद्गु ने उनसे कहा- हे सोम्य! मैं तुम्हें ब्रह्म का चौथा पाद बताऊँगा? सत्यकाम ने कहा- हे भगवन्! मुझे अवश्य बताएँ। प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन- ये चार कलाएँ हैं। हे सोम्य! यह ब्रह्म का चतुष्कल पाद आयतनवान् (आश्रययुक्त) संज्ञा का है ॥ ३ ॥

**स य एतमेवं विद्वाऽश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्त आयतनवानस्मिलोके भवत्यायतनवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाऽश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥**

इस प्रकार जानने वाला जो विद्वान् ब्रह्म के इस 'आयतनवान्' संज्ञक चतुष्कल पाद की उपासना करता है, वह इस लोक में आयतनवान् होता है और आयतनवान् लोकों को विजित करता है। इस प्रकार ब्रह्म के आयतनवान् स्वरूप की उपासना करने वाला विद्वान् ब्रह्म के उसी स्वरूप को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

## ॥ नवमः खण्डः ॥

**प्राप हाचार्यकुलं तमाचार्योऽभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ १ ॥**

जब सत्यकाम आचार्यकुल में पहुँचे, तो आचार्य ने उन्हें सम्बोधित किया- सत्यकाम! उन्होंने उत्तर दिया जी भगवन्! ॥ १ ॥

**ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि को नु त्वानुशशासेत्यन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिज्ञे भगवाऽस्त्वेव मे कामे ब्रूयात् ॥ २ ॥**

आचार्य ने उनसे कहा हे सोम्य! तुम ब्रह्मवेत्ता के सदृश दीसिमान् हो रहे हो, तुम्हें किसने उपदेश दिया? सत्यकाम ने उन्हें उत्तर दिया- हे आचार्य! मुझे मनुष्य से भिन्न प्राणियों ने उपदेश दिया है। अब मेरी कामना के अनुसार आप ही मुझे उपदेश करें ॥ २ ॥

**श्रुतः ह्येव मे भगवद्दूशेभ्य आचार्याद्वैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किंचन वीयायेति वीयायेति ॥ ३ ॥**

तब आचार्य ने उन्हें उपदेश किया- मैंने भगवद् स्वरूप ऋषियों के मुख से सुना है कि आचार्य के मुख से जानी गई विद्या ही उपयुक्ता- सार्थकता को प्राप्त होती है। आगे उन्होंने जब उपदेश किया, तो कुछ भी जानना शेष न रहा अर्थात् वे सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त हुए ॥ ३ ॥

## ॥ दशमः खण्डः ॥

**उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्रीन्परिच्छार स ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्तयःस्तः ह स्मैव न समावर्तयति ॥ १ ॥**

उपकोसल कामलायन (कमल का वंशज) सत्यकाम जाबाल के आचार्यत्व में ब्रह्मचर्य पूर्वक वास करते थे। उन्होंने बारह वर्ष तक आचार्यकुल में अग्नियों की परिचर्या की। आचार्य सत्यकाम ने अन्य ब्रह्मचारियों का समावर्तन संस्कार कर दिया, परन्तु उनका नहीं किया ॥ १ ॥

तं जायोवाच तसो ब्रह्मचारी कुशलमग्रीन्यरिचचारीन्मा त्वाग्रयः परिप्रवोचन्प्रबूहस्मा  
इति तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासांचक्रे ॥ २ ॥

आचार्य सत्यकाम से उनकी धर्मपत्नी ने कहा- यह ब्रह्मचारी बहुत तपश्चर्या कर चुका है, इनके द्वारा भली प्रकार अग्नियों की परिचर्या भी की गई है। अतः आप इसे उपदेश कर दें, जिससे अग्नियाँ आपकी निन्दा न करें, किन्तु वे बिना कुछ कहे प्रवास पर चल दिये ॥ २ ॥

स ह व्याधिनानशितुं दधे तमाचार्यजायोवाच ब्रह्मचारिन्नशान किंनु नाश्रासीति स  
होवाच बहव इमेऽस्मिन्युरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिः प्रतिपूर्णोऽस्मि नाशिष्यामीति ॥ ३ ॥

उन उपकोसल ने मानसिक व्यथा से अनशन करने का निश्चय किया। उनसे आचार्य की धर्मपत्नी ने कहा- हे ब्रह्मचारिन्! तू भोजन क्यों नहीं करता? उन्होंने कहा- इस पुरुष में बहुत सी कामनाएँ रहती हैं, जो दुःख देती हैं। मैं उन्हीं विविध मानसिक व्यथाओं से परिपूर्ण हूँ, अतः भोजन नहीं करूँगा ॥ ३ ॥

अथ हाग्रयः समूदिरेतसो ब्रह्मचारी कुशलं नः पर्यचारीद्धन्तास्मै प्रब्रवामेति तस्मै होचुः ॥

तदनन्तर अग्नियों ने एकत्रित होकर आपस में कहा- यह ब्रह्मचारी तपश्चर्या कर चुका है। इसने हमारी भली प्रकार परिचर्या की है। अब हम इसे उपदेश करते हैं। ऐसा उन अग्नियों ने निश्चय कर उनसे कहा- प्राण ब्रह्म है। 'क' (सुख) ब्रह्म है और 'ख' (आकाश) ब्रह्म है ॥ ४ ॥

प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खं च  
न विजानामीति ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति प्राणं च हास्मै  
तदाकाशं चोचुः ॥ ५ ॥

उपकोसल ने कहा- यह मैं जानता हूँ कि प्राण ब्रह्म है, किन्तु 'क' और 'ख' मैं नहीं जानता। उन अग्नियों ने उत्तर दिया- जो 'क' है वही 'ख' है और जो 'ख' है वही 'क' है। इस प्रकार उन्होंने उपकोसल को प्राण और उसके आधारभूत आकाश का उपदेश किया ॥ ५ ॥

## ॥ एकादशः खण्डः ॥

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते  
सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

आगे उन्हें गार्हपत्याग्नि ने उपदेश किया- पृथिवी, अग्नि, अन्न और आदित्य, इन चारों में मैं ही हूँ। आदित्य के मध्य जो पुरुष दिखाई देता है, वह मैं ही हूँ, वही मेरा (विस्तृत) रूप है ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्ते यहते पापकृत्यां लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति  
नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुज्ञामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च य एतमेवं  
विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

जो पुरुष इस प्रकार जानकर उसकी (आदित्य पुरुष की) उपासना करता है, वह पाप कर्मों को नष्ट कर देता है। वह अग्नि के भोगों (लोक) को प्राप्त होता है, पूर्ण आयु का उपभोग करता है, तेजस्वी जीवन जीता है, उनके वंशज क्षीण नहीं होते। इस प्रकार जानकर जो पुरुष उसकी उपासना करता है, उसका हम (अग्नियाँ) इस लोक तथा परलोक (अदृश्य लोक) में भी पालन करती हैं ॥ २ ॥

## ॥ द्वादशः खण्डः ॥

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशासापो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

तदनन्तर अन्वाहार्यपचन (दक्षिणाग्नि) ने उन्हें उपदेश किया-जल, दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा- ये चार रूप मेरे ही हैं। चन्द्रमा के मध्य जो पुरुष दिखाई देता है, वह मैं ही हूँ, वही मेरा रूप है ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुज्ञामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥

वह साधक जो इस प्रकार जानकर उसकी (चन्द्र पुरुष) की उपासना करता है, वह पाप कर्मों को विनष्ट करता है, चन्द्रलोक को प्राप्त होता है, पूर्ण आयु का उपभोग करता है और तेजस्वी जीवन जीता है। उसके अनुवर्ती वंशज कभी क्षीण नहीं होते। जो इस प्रकार जानकर उसकी उपासना करता है, इस लोक तथा परलोक में भी हम (अग्नियाँ) उसका पालन करती हैं ॥ २ ॥

## ॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

उसके बाद आहवनीय अग्नि ने उन्हें उपदेश किया-प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत् - इन चारों में मैं ही हूँ। यह जो विद्युत् के मध्य पुरुष दिखायी देता है, वह मैं ही हूँ। वही मेरा रूप है ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुज्ञामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

वह साधक जो इस प्रकार जानकर उसकी (विद्युत् पुरुष की) उपासना करता है, वह पापकर्मों को विनष्ट करता है, विद्युत् लोक में भोगों से युक्त होता है, पूर्ण आयु का उपभोग करता है और तेजस्वी जीवन जीता है। उसके अनुवर्ती वंशज कभी क्षीण नहीं होते। जो इस प्रकार जानकर उसकी उपासना करता है, हम (अग्नियाँ) उसका इस लोक में और परलोक में भी पालन करती हैं ॥ २ ॥

## ॥ चतुर्दशः खण्डः ॥

ते होचुरुपकोसलैषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या चाचार्यस्तु ते गतिं वक्तेत्याजगाम हास्याचार्यस्तमाचार्योऽभ्युवादोपकोसल ३ इति ॥ १ ॥

उन अग्नियों ने उपकोसल से कहा- हे उपकोसल! हे सोम्य! तुम्हारे लिए हमने यह विद्या (अग्नि) और आत्म विद्या कही। इससे आगे की विद्या तुझे आचार्य बताएँगे। इसके बाद आचार्य आये और उपकोसल को सम्बोधित किया- उपकोसल! ॥ १ ॥

भगव इति ह प्रतिशुश्राव ब्रह्मविद इव सोम्य ते मुखं भाति को नु त्वानुशशासेति को नु मानुशिष्याद्बो इतीहापेव निहुत इमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इतीहाग्रीनभ्यूदे किं नु सोम्य किल तेऽवोचन्निति ॥ २ ॥

उन्होंने प्रत्युत्तर दिया- जी भगवन्! आचार्य सत्यकाम ने उनसे कहा- हे सोम्य! तुम्हारा मुख ब्रह्मवेत्ता के सदृश दिखाई पड़ता है। उपकोसल ने उनसे कहा- भगवन्! मुझे उपदेश देने वाला यहाँ कौन है? तब अग्नियों की ओर संकेत कर कहा- उन्होंने ही मुझे उपदेश दिया है, परन्तु अब ये अन्य स्वरूप में हैं। आचार्य ने उनसे कहा- हे सोम्य! इन्होंने क्या उपदेश किया है? ॥ २ ॥

इदमिति ह प्रतिज्ञे लोकान्वाव किल सोम्य तेऽवोचन्नं तु ते तद्वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश? आपो न श्लिष्ट्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्ट्यत इति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

उपकोसल ने अग्नियों का उपदेश आचार्य को बताया। तब आचार्य ने उनसे कहा- हे सोम्य! इन्होंने तो तुझे केवल लोकों का ज्ञान दिया है। अब तुझे मैं वह ज्ञान देता हूँ, जिसे जानने पर पाप कर्म उसी प्रकार लिस नहीं होते, जिस प्रकार कमल पत्र जल से लिस नहीं होते। उन्होंने कहा- भगवन्! मुझे अवश्य बताएँ। तब आचार्य ने उन्हें उपदेश दिया ॥ ३ ॥

## ॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचेतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तद्यद्यप्यस्मिन्नर्पिंवर्दकं वा सिञ्चन्ति वर्त्मनी एव गच्छति ॥ १ ॥

यह नेत्र में जो पुरुष दिखायी देता है, (जो चक्षुओं का चक्षु अथवा दृष्टि का द्रष्टा है) वह आत्मा है। यह अविनाशी, भयरहित और ब्रह्मस्वरूप है। उसके स्थान पर जल या घृत डालें, तो वह पलकों में ही चला जाता है (अर्थात् वह सम्पूर्ण पदार्थों से अलिस रहता है) ॥ १ ॥

एतः संयद्वाम इत्याचक्षत एतः हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ॥ २ ॥

इस पुरुष को 'संयद्वाम' कहते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण शोभन वस्तुएँ सब ओर से इसे ही प्राप्त होती हैं। जो साधक इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है, वह सर्वोपयोगी वस्तुएँ सब ओर से धारण करता है ॥

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद ॥ ३ ॥

यह पुरुष निश्चय ही सम्पूर्ण पुण्यफलों को धारण करने वाला है। जो साधक इस प्रकार जानता है, वह सम्पूर्ण पुण्यफलों को धारण करता है ॥ ३ ॥

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

यह पुरुष निश्चय ही प्रकाशमान है, क्योंकि यही सम्पूर्ण लोकों में प्रकाशित होता है। जो साधक इस प्रकार जानकर उपासना करता है, वह सम्पूर्ण लोकों में प्रकाशित होता है ॥ ४ ॥

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्वदुद्देति मासाःस्तान्मासेभ्यः संवत्सरः संवत्सरादादित्यमादित्याच्यन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः ॥ ५ ॥

स्मैनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्त नावर्तन्ते नावर्तन्ते ॥ ६ ॥

इस प्रकार जानने वाला पुरुष मृत्यु के पूर्व या उपरान्त अर्चिं देवता को प्राप्त होता है। फिर अर्चिं देव से दिवस सम्बन्धी देव को, दिवस से शुक्ल पक्ष को, शुक्ल पक्ष से उत्तरायण के छः मासों को, उत्तरायण के छः मासों से संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रमा को और चन्द्रमा से विद्युत् को प्राप्त होता है। वहाँ से अमानवी पुरुष (विशिष्ट देवपुरुष) उन्हें ब्रह्म लोक को प्राप्त करता है। यह देवमार्ग अथवा ब्रह्म मार्ग है, इससे गमन करने वाला पुरुष पुनः इस मानव जगत् को नहीं प्राप्त होता ॥ ५-६ ॥

## ॥ षोडशः खण्डः ॥

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह यन्निदः सर्वं पुनाति । यदेष यन्निदः सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्तनी ॥ १ ॥

वह जो प्रवहमान (वायु) है, वह यज्ञ ही है। यह प्रवहमान तत्त्व इस सम्पूर्ण जगत् को पवित्र करता है। चूँकि यह सम्पूर्ण जगत् को पवित्र करता है, अतः यही यज्ञ है। वाणी और मन ये दो इसके मार्ग हैं॥

तयोरन्यतरां मनसा सःस्करोति ब्रह्मा वाचा होताध्वर्युरुद्ग्रातान्यतराः स यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति ॥ २ ॥

उनमें से एक मार्ग का संस्कार ब्रह्मा अपने मन से करते हैं तथा होता, अध्वर्यु और उद्गाता वाणी द्वारा दूसरे मार्ग का संस्कार करते हैं। (यदि) प्रातः कालीन अनुवाक के आरम्भ होने के पूर्व ब्रह्मा अपनी वाणी का प्रयोग करते हैं ॥ २ ॥

अन्यतरामेव वर्तनीः सःस्करोति हीयतेऽन्यतरा स यथैकपाद्वजन्त्रथो वैकल चक्रेण वर्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो रिष्यति यज्ञः रिष्यन्तं यजमानोऽनुरिष्यति स इष्ट्वा पापीयान्भवति ॥ ३ ॥

(तो) वह केवल एक वाणी के मार्ग का ही संस्कार करते हैं, दूसरा मार्ग नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार एक पैर से चलने वाला पुरुष अथवा एक पहिये से चलने वाला रथ नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इस यज्ञ का विनाश हो जाता है। यज्ञ के विनष्ट होने पर यजमान भी नष्ट हो जाता है। ऐसा यज्ञ करने पर यजमान अधिक पापों को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदत्युभे एव वर्तनी सःस्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरा ॥ ४ ॥

यदि प्रातः कालीन अनुवाक आरम्भ करने के पश्चात् परिधानीया ऋचा से पूर्व ब्रह्मा नहीं बोलते हैं, तो (समस्त ऋत्विक् मिलकर) दोनों ही मार्गों का संस्कार करते हैं, तब कोई भी मार्ग नष्ट नहीं होता ॥ ४ ॥

स यथोभयपाद्वजन्त्रथो वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञः प्रतितिष्ठति यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनुप्रतितिष्ठति स इष्ट्वा श्रेयान्भवति ॥ ५ ॥

जिस प्रकार दोनों पैरों से चलने वाला पुरुष तथा दोनों पहियों से चलने वाला रथ भली प्रकार स्थित रहता है, वैसे ही यह यज्ञ भी भली प्रकार स्थित रहता है। यज्ञ के स्थित रहने से यजमान भी भली प्रकार स्थित रहता है। ऐसा यज्ञ करके यजमान विशिष्ट श्रेय को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

## ॥ सप्तदशः खण्डः ॥

प्रजापतिलोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमानानाः रसान्प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्त-  
रिक्षादादित्यं दिवः ॥ १ ॥

प्रजापति ब्रह्मा ने लोकों का सार ग्रहण करने के निमित्त तप किया। तप के प्रभाव से उन्होंने लोकों से रसों को उत्पन्न किया। पृथ्वी से अग्नि, अन्तरिक्ष से वायु और द्युलोक से आदित्य को ग्रहण किया ॥ १ ॥

स एतास्तिस्त्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानाः रसान्प्रावृहदग्नेर्त्रैऽचो वायोर्यजूःषि  
सामान्यादित्यात् ॥ २ ॥

फिर उन्होंने तीन देवों से सार ग्रहण करने के निमित्त तप किया। तप के प्रभाव से उन्होंने देवों से रसों को उत्पन्न किया। अग्निदेव से ऋक्, वायुदेव से यजुष् और आदित्यदेव से साम को ग्रहण किया ॥ २ ॥

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया रसान्प्रावृहद्दूरित्यृग्भ्यो भुवरिति  
यजुःष्यः स्वरिति सामभ्यः ॥ ३ ॥

फिर उन्होंने इस त्रयी विद्या का सार ग्रहण करने के निमित्त तप किया। तप के प्रभाव से उन्होंने त्रयी विद्या से रसों को उत्पन्न किया। ऋचाओं से भूः, यजुः कण्डिकाओं से भुवः तथा साम मंत्रों से स्वः को ग्रहण किया ॥ ३ ॥

तद्यदध्युक्तो रिष्येद्दूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयादृचामेव तद्रसेनर्चा वीर्येणर्चा यज्ञस्य  
विरिष्टः संदधाति ॥ ४ ॥

यदि ऋचाओं के यज्ञ में कोई त्रुटि हो, तो 'भूः स्वाहा' ऐसा कहकर गार्हपत्याग्नि में यज्ञ करे। इस प्रकार ऋचाओं के रस से ऋचाओं के बीज द्वारा ऋचा सम्बन्धी यज्ञ की त्रुटियों की पूर्ति होती है ॥ ४ ॥

अथ यदि यजुषो रिष्येद्दुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयाद्यजुषामेव तद्रसेन यजुषां  
वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टः संदधाति ॥ ५ ॥

यदि यजुः कण्डिकाओं के यज्ञ में कोई त्रुटि हो, तो 'भुवः स्वाहा' ऐसा कहकर दक्षिणाग्नि में आहुति देनी चाहिए। इस प्रकार यजुओं के रस से यजुओं के बीज द्वारा यजुष् सम्बन्धी यज्ञ की पूर्ति होती है ॥ ५ ॥

अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात्साम्नामेव तद्रसेन सामां वीर्येण  
साम्नां यज्ञस्य विरिष्टः संदधाति ॥ ६ ॥

यदि साम मंत्रों के यज्ञ में कोई त्रुटि हो, तो 'स्वः स्वाहा' इस उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि में आहुति देनी चाहिए। इस प्रकार साम मंत्रों के रस से साम के बीज द्वारा साम सम्बन्धी यज्ञ की पूर्ति होती है ॥ ६ ॥

तद्यथा लवणेन सुवर्णः संदध्यात्सुवर्णेन रजतः रजतेन त्रपु त्रपुणा सीसः सीसेन  
लोहं लोहेन दारु दारु चर्मणा ॥ ७ ॥

जिस प्रकार लवण से सोने को, सोने से चाँदी को, चाँदी से रँगा को, रँगे से सीसे को, सीसे से लोहे को, लोहे से काष्ठ को और चमड़े से काष्ठ को जोड़ा जाता है ॥ ७ ॥

एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रया विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टः संदधाति  
भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद्वहा भवति ॥ ८ ॥

उसी प्रकार इन लोकों, देवों और तीनों वेदों के सार से यज्ञ के छिद्र (दोष) का सुधार किया जाता है। जिस यज्ञ में इस प्रकार जानने वाला ब्रह्मा होता है, वह यज्ञ निश्चय ही ओषधियों (आहुतियों) से संस्कारित (प्रभावयुक्त) होता है ॥ ८ ॥

एष ह वा उदक्ष्यवणो यज्ञो यत्रैवंविद्वहा भवत्येवंविदः ह वा एषा ब्रह्माणमनु  
गाथा यतो यत आवर्तते तत्तद्रच्छति ॥ ९ ॥

जिस यज्ञ में इस प्रकार जानने वाला ब्रह्मा होता है, वह यज्ञ उत्तर मार्ग को प्राप्त करता है। इस प्रकार ज्ञान-सम्पन्न ब्रह्मा के प्रति यह उक्ति कही गई है- जहाँ भी वह यज्ञ में प्रवृत्त होता है, वह यज्ञ के अभीष्ट को प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरुनश्चाभिरक्षत्येवंविद्व वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानः  
सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥ १० ॥

इस प्रकार ब्रह्मा मनन करने वाला एक ऋत्विक् होता है। जिस प्रकार घोड़ी सब योद्धाओं की रक्षा करती है, उसी प्रकार ब्रह्मा यज्ञ की, यजमान की और सब ऋत्विजों की सब ओर से रक्षा करता है। अतः इस प्रकार ज्ञान-सम्पन्न को ही ब्रह्मा बनाएँ, ऐसा न जानने वाले को न बनाएँ, कभी न बनाएँ ॥ १० ॥



## ॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

### ॥ प्रथमः खण्डः ॥

इस अध्याय में प्राण की सर्वश्रेष्ठता एवं पञ्चाग्नि विद्या का वर्णन किया गया है-

**यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ १ ॥**

जो ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ (आयु में प्रथम और गुणों में अधिक) को जानता है, वह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। निश्चय ही प्राण ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

**यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति वाग्वाव वसिष्ठः ॥ २ ॥**

जो वसिष्ठ (समग्र श्रेष्ठता) को जानता है, वह स्वजातियों में वसिष्ठ (श्रेष्ठ धन से सम्पन्न) होता है। निश्चय ही वाक् (वाणी) वसिष्ठ है ॥ २ ॥

**यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च चक्षुर्वाच प्रतिष्ठा ॥ ३ ॥**

जो कोई प्रतिष्ठा को जानता है, वह लोक, परलोक (स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीर) में प्रतिष्ठित होता है। निश्चय ही चक्षु प्रतिष्ठा है ॥ ३ ॥

**यो ह वै संपदं वेद सःहास्मै कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च श्रोत्रं वाव संपत् ॥ ४ ॥**

जो कोई सम्पद को जानता है, उसे दैव और मानुष दोनों ही काम (भोग) सभी प्रकार से प्राप्त होते हैं। श्रोत्र ही सम्पत्ति है ॥ ४ ॥

**यो ह वा आयतनं वेदायतनः ह स्वानां भवति मनो ह वा आयतनम् ॥ ५ ॥**

जो कोई आयतन को जानता है, वह स्वजनों का आयतन होता है अर्थात् उनका आश्रय बन जाता है। निश्चय ही मन आयतन है ॥ ५ ॥

**अथ ह प्राणा अहं श्रेयसि व्यूदिरेऽहं श्रेयानस्म्यहं श्रेयानस्मीति ॥ ६ ॥**

एक बार प्राण (विभिन्न इन्द्रियों में स्थित प्राण) अपनी श्रेष्ठता के लिए परस्पर विवाद करने लगे कि मैं श्रेष्ठ हूँ - मैं श्रेष्ठ हूँ ॥ ६ ॥

**ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन्को नः श्रेष्ठ इति तान्होवाच यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ॥ ७ ॥**

तब उन प्राणों ने अपने पिता प्रजापति के पास जाकर पूछा 'भ्रगवन्! हममें से श्रेष्ठ कौन है?' तब प्रजापति ने उत्तर दिया कि 'तुममें से जिस तत्त्व के निकल जाने पर शरीर अत्यन्त पापिष्ठ (जीवित रहते हुए भी प्राणहीन एवं उससे भी निकृष्ट जैसा) दिखाई देने लगे, वही तत्त्व श्रेष्ठ है' ॥ ७ ॥

**सा ह वागुच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशक्तर्ते मज्जीवितुमिति यथा कला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृणवन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह वाक् ॥ ८ ॥**

(तब) वाक् इन्द्रिय ने उल्कमण किया, अर्थात् शरीर से बाहर चली गयी। उसने एक वर्ष तक प्रवास में रहने के बाद वापस लौटकर पूछा- 'मेरे बिना तुम जीवित रहने में कैसे समर्थ रह सके?' तब इन्द्रियों ने कहा- जिस प्रकार गूँगा वाणी से बिना बोले हुए भी प्राण से शासोच्छ्वास करता है, नेत्रों से देखता है,

कानों से सुनता है और मन से चिन्तन करते हुए जीवनयापन करता है। उसी प्रकार (हम भी जीवित रहे) ऐसा सुनकर वागिन्द्रिय ने शरीर में पुनः प्रवेश किया ॥ ८ ॥

**चक्षुहोच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशक्तर्ते मज्जीवितुमिति यथान्था अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ९ ॥**

(फिर) चक्षु (नेत्र) ने उल्कमण किया। एक वर्ष तक प्रवास में रहने के पश्चात् वापस लौटकर पूछा- ‘मेरे बिना तुम जीवित कैसे रह सके?’, (तब अन्य इन्द्रियों ने कहा) ‘जिस प्रकार नेत्रहीन नेत्रों से देख नहीं सकता, तो भी प्राणों से श्वासोच्छ्वास करते, वाणी से बोलते, कानों से श्रवण करते और मन से चिन्तन करते हुए जीवित रहता है, उसी प्रकार [हम भी जीवित रहे], ऐसा सुनकर नेत्र ने पुनः प्रवेश किया ॥ ९ ॥

**श्रोत्रः होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशक्तर्ते मज्जीवितुमिति यथा बधिरा अशृण्वन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्वक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ १० ॥**

(इसके पश्चात्) श्रोत्र (कान) ने उल्कमण किया। एक वर्ष तक प्रवास में रहने के उपरान्त पुनः लौटकर पूछा- हमारे बिना तुम कैसे जीवित रहे? तब अन्य इन्द्रियों ने कहा- ‘जिस प्रकार बधिर बिना सुने, प्राण से प्राणन करते, वाणी से बोलते, चक्षु से देखते और मन से चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं, वैसे ही हम भी जीवित रहे।’ यह सुन करके श्रोत्र ने शरीर में पुनः प्रवेश किया ॥ १० ॥

**मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशक्तर्ते मज्जीवितुमिति यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्वक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति प्रविवेश ह मनः ॥ ११ ॥**

(श्रोत्र के बाद) मन ने बाह्य गमन किया। एक वर्ष तक प्रवास में रहने के बाद लौटकर उसने बाक आदि इन्द्रियों से पूछा कि ‘मेरे बिना तुम किस प्रकार जीवित रहे?’ (तब उन सभी ने कहा) ‘जिस प्रकार छोटे बच्चे, जिनका कि मन विकसित नहीं होता, प्राण द्वारा श्वासोच्छ्वास करते, वाणी से बोलते, चक्षु से देखते, कर्णों से श्रवण करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार (हम भी जीवित रहे)।’ यह सुनकर मन ने शरीर में पुनः प्रवेश किया ॥ ११ ॥

**अथ ह प्राण उच्चिकमिषन्त्स यथासुहयः पद्वीशशङ्कून् संखिदेवमिति- रान् प्राणान् समखिदत्तः हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेत्रित्वं नः श्रेष्ठोऽसि मौत्कमीरिति ॥ १२ ॥**

फिर प्राण बहिर्गमन करने के लिए तत्पर होता है। जिस तरह शक्तिशाली अश्व पैर बाँधने की कीलों को उखाड़ देता है, उसी प्रकार प्राण ने समस्त इन्द्रियों के बन्धन से अपने आप को मुक्त किया। तब उन सबने प्राण से निवेदन किया कि ‘भगवन्! आप अपने ही स्थान पर रहें, आप ही हम सब में श्रेष्ठ हैं, आप बाहर न जाएँ’ ॥ १२ ॥

**अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठासीति ॥ १३ ॥**

तत्पश्चात् उस वागिन्द्रिय ने मुख्य प्राण से कहा- ‘मैं जो वसिष्ठ हूँ, वह वसिष्ठ आप ही हैं।’ चक्षु ने कहा- “मैं जो प्रतिष्ठा हूँ, सो (वह) प्रतिष्ठा आप ही हैं।” ॥ १३ ॥

अथ हैनः श्रोत्रमुवाच यदहः संपदस्मि त्वं तत्संपदसीत्यथ हैनं मन उवाच  
यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति ॥ १४ ॥

फिर उस श्रोत्र ने कहा कि 'मैं जो सम्पद' (श्रेष्ठ सम्पत्ति) हूँ, सो वह सम्पद आप ही हैं। (इसके बाद) उस मुख्य प्राण से मन ने कहा - 'मैं जो आयतन (आश्रय) हूँ, वह आश्रय आप ही हैं ॥ १४ ॥

न वै वाचो न चक्षुःषि न श्रोत्राणि न मनाःसीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो  
होवैतानि सर्वाणि भवति ॥ १५ ॥

इसलिए लोक में वाक् आदि समस्त इन्द्रियों को न वाणी, न नेत्र, न श्रोत्र और न ही मन; बल्कि सबको 'प्राण' नाम से ही सम्बोधित करते हैं, क्योंकि ये सभी प्राण ही हैं ॥ १५ ॥

## ॥ द्वितीयः खण्डः ॥

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति यत्किंचिदिदमा श्वभ्य आ शकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा  
एतदनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षं न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवतीति ॥ १ ॥

उस मुख्य प्राण ने प्रश्न किया कि मेरा अन्न क्या होगा? तब वाक् आदि इन्द्रियों ने उत्तर देते हुए कहा - 'कुर्तों और पक्षियों से लेकर सभी प्राणियों का यह जो कुछ भी अन्न है, वह सब तुम्हारा ही है। 'अन्' यह प्राण का नाम प्रसिद्ध है। इस प्रकार जानने वाले के लिए कुछ भी अभक्ष्य नहीं होता है ॥ १ ॥

[ प्राणियों में जब तक प्राण रहते हैं, तभी तक उन्हें अन्न की आवश्यकता पड़ती है। प्राण जाते ही अन्न की माँग समाप्त हो जाती है, इसीलिए सारे अन्न प्राण के लिए ही हैं। ]

स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः  
पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्दिः परिदधति लभ्युको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति ॥ २ ॥

उस मुख्य प्राण ने पुनः प्रश्न किया कि 'मेरा वास (वस्त्र) क्या होगा?' तब वाक् आदि इन्द्रियों ने कहा - 'जल'। (प्राण को) भोजन करने से पूर्व और पश्चात् आच्छादित करते हैं। (ऐसा करने से) वह वस्त्र धारण करने वाला और अनग्र होता है ॥ २ ॥

तद्वैतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघपद्यायोक्त्वोवाच यद्यप्येतच्छुष्काय  
स्थाणवे ब्रूयाज्ञायेरन्नेवास्मिज्ञाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ३ ॥

इस प्राणोपासना पद्धति का विवरण सत्यकाम जाबाल ने व्याघ्रपद के पुत्र गोश्रुति नामक वैयाघ्रपद को सुनाया - "यदि कोई इस प्राणोपासना को शुष्क ठूँठ से भी कहेगा, तो उसमें भी शाखाएँ उत्पन्न हो जाएँगी और पत्ते प्रस्फुटित हो आएँगे ।" ॥ ३ ॥

[ मन्त्र क्र० १ में प्राण - प्रक्रिया को जानने वाले तथा क्र० ३ में सुनने वाले को असाधारण लाभ प्राप्त होने की बात कही गयी है। उस काल में जानने का अर्थ उस प्राण-प्रक्रिया को चलाने की क्षमता होना तथा सुनने का अर्थ उस प्राण-प्रक्रिया को आत्मसात् करना ही रहा होगा। उसी स्थिति में किसी अन्न से योषण पाने तथा सूखे ठूँठ में भी नये प्राण का संचार होने की बात सिद्ध होती है। ]

अथ यदि महजिगमिषेदमावास्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्याः रात्रौ सर्वोषधस्य मन्थं  
दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्रावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ॥ ४ ॥

इसके बाद अब यदि वह महत्व का अभिलाषी हो, तो उसे अमावस्या को दीक्षा प्राप्त करके पूर्णिमा की रात्रि को सभी औषधियों, दही और शहद सम्बन्धी मन्थ (मथकर तैयार किया गया हव्य) का मंथन कर 'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा' के मन्त्र द्वारा अग्नि में घृत की आहुति देकर मन्थ में उसका अवशेष डालना चाहिए।

**वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्रावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्रावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्संपदे स्वाहेत्यग्रावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेदायतनाय स्वाहेत्यग्रावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्॥ ५ ॥**

(इसी प्रकार) 'वसिष्ठाय स्वाहा' के मन्त्र से अग्नि में घृताहुति समर्पित कर मन्थ में भी घृत के स्राव को डाले, 'प्रतिष्ठायै स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि को घृताहुति समर्पित करके मन्थ में घृत के अवशेष को डाले, 'संपदे स्वाहा' मन्त्र के द्वारा अग्नि में हवन करके अवशिष्ट घृत को मन्थ में डाले तथा 'आयतनाय स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में घृत की आहुति देकर शेष घृत को मन्थ में समर्पित करे॥ ५ ॥

**अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाध्याय जपत्यमो नामास्यमा हि ते सर्वमिदः स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यः श्रैष्ठ्यः राज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेदः सर्वमसानीति ॥ ६ ॥**

(तत्पश्चात्) अग्नि से कुछ दूर हटकर अञ्जलि में मन्थ को लेकर इस मन्त्र का उच्चारण करे- 'अमो नामसि' हे मन्थ! तू 'अम' (प्राण) नाम वाला है, क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् (अपने प्राणभूत) तेरे साथ अवस्थित है। तू ही ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, राजा (प्रकाशमान) और सबका अधिपति है। वह तुम मुझे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ तत्त्व, राज्य और आधिपत्य को प्राप्त कराओ। मैं ही सर्वरूप हो जाऊँ॥ ६ ॥

**अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति तत्सवितुर्वृणीमह इत्याचामति वयं देवस्य भोजनमित्याचामति श्रेष्ठः सर्वधातममित्याचामति तुरं भगस्य धीमहीति सर्व पिबति ॥ ७ ॥**

तदनन्तर वह इस ऋचा से (हम प्रकाशमान सविता के उस सर्वविषयक श्रेष्ठतम भोजन की प्रार्थना करते हैं और शीघ्र ही सविता देवता के स्वरूप का ध्यान करते हैं) पादशः (उस मन्थ का) एक -एक पद को कहकर मध्य के एक-एक ग्रास का भक्षण करता है। 'तत्सवितुर्वृणीमहे' ऐसा कहकर एक ग्रास का भक्षण करता है। 'वयं देवस्य भोजनम्' ऐसा कहकर एक ग्रास का भक्षण करता है। 'श्रेष्ठं सर्वधातमम्' मन्त्र कहकर पुनः एक ग्रास को ग्रहण करता है तथा 'तुरं भगस्य धीमहि' ऐसा कहकर कंस अथवा चमस के आकार वाले पात्र को धोकर सम्पूर्ण मंथ लेप को पी जाता है॥ ७ ॥

**निर्णिन्य कःसं चमसं वा पश्चादग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डले वा वाचंयमोऽप्रसाहः स यदि स्त्रियं पश्येत्समृद्धं कर्मेति विद्यात् ॥ ८ ॥**

इसके बाद अग्नि के पृष्ठ भाग पर पीछे की ओर पवित्र मृग चर्म आदि बिछाकर अथवा स्थण्डल (पवित्र यज्ञ भूमि) में ही वाणी का संयम रखते हुए शयन करता है। उस समय यदि वह स्वप्न में स्त्री का दर्शन करे, तो यह समझे कि मेरा यह अनुष्ठान सफलता को प्राप्त हो गया॥ ८ ॥

**तदेष श्रोकः । यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियः स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र**

**जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने तस्मिन्स्वप्ननिदर्शन इति ॥ ९ ॥**

इससे सम्बन्धित यह श्रोक है- 'काम्य कर्मो में जब स्त्री को देखे, तो उस स्वप्न के दर्शन होने पर उस कार्य की सफलता समझे॥ ९ ॥

## ॥ तृतीयः खण्डः ॥

**श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानाऽसमितिमेयाय तःह प्रवाहणो जैवलिरुवाच कुमारानुत्वाशिषत्पितेत्यनु हि भगव इति ॥ १ ॥**

पञ्चाल नरेश की सभा में (एक बार) आरुणि पुत्र श्वेतकेतु आया। वहाँ उससे जीवल पुत्र प्रवाहण ने प्रश्न करते हुए कहा कि 'कुमार! क्या तुम्हारे पिताजी ने तुमको शिक्षा प्रदान की है?'। तब उसने कहा- हाँ, भगवन् ! हमने अपने पिताजी से शिक्षा प्राप्त की है ॥ १ ॥

**वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति न भगव इति वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त ३ इति न भगव इति वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना ३ इति न भगव इति ॥ २ ॥**

प्रवाहण ने पुनः प्रश्न किया कि क्या तुम्हें यह ज्ञात है कि प्रजा इस लोक से जाने के बाद कहाँ जाती है? श्वेतकेतु ने कहा- 'भगवन् ! यह जानकारी मुझे नहीं है। उसने फिर पूछा कि क्या तुम्हें यह ज्ञात है कि वह प्रजा पुनः इस लोक में किस प्रकार आती है? श्वेतकेतु ने पुनः नकारात्मक उत्तर दिया कि मुझे यह भी नहीं मालूम है। प्रवाहण पुनः अगला प्रश्न पूछता है कि देवयान और पितृयान मार्गों का एक दूसरे से अलग होने का स्थान क्या तुम्हें ज्ञात है?' श्वेतकेतु ने कहा- नहीं भगवन् ! मैं यह भी नहीं जानता ॥ २ ॥

**वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यत ३ इति न भगव इति वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति नैव भगव इति ॥ ३ ॥**

प्रवाहण ने पुनः प्रश्न किया कि क्या तुम्हें ज्ञात है कि यह पितर लोक क्यों नहीं भरता है? श्वेतकेतु ने कहा- 'नहीं भगवन् ! उसने फिर पूछा कि 'पाँचवीं आहुति के यजन कर दिये जाने पर घृत सहित सोमादि रस 'पुरुष' संज्ञा को कैसे प्राप्त करते हैं'? श्वेतकेतु ने कहा- नहीं भगवन् ! मैं यह भी नहीं जानता ॥ ३ ॥

**अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथा यो हीमानि न विद्यात्कथं सोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति स हायस्तः पितुरर्धमेयाय तःहोवाचाऽननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनुत्वाशिषमिति ॥ ४ ॥**

"तो फिर तुमने स्वयं के सम्बन्ध में ऐसा क्यों कहा कि मुझे शिक्षा प्रदान की गयी है?" जो इन सभी विद्याओं की जानकारी नहीं रखता है, वह अपने को पूर्ण शिक्षित कैसे कह सकता है? उपर्युक्त सभी प्रश्नों के उत्तर न दे पाने से त्रस्त होकर वह अपने पिता आरुणि के पास गया और बोला कि आपने मुझे शिक्षा दिये बगैर ही आश्वस्त कर दिया था कि मैंने तुझे शिक्षा प्रदान कर दी है ॥ ४ ॥

**पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीतेषां नैकञ्चनाशकं विवक्तुमिति स होवाच यथा मा त्वं तदैतानवदो यथाहमेषां नैकंचन वेद यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं ते नावक्ष्यमिति ॥ ५ ॥**

श्वेतकेतु ने अपने पिता से कहा कि 'उस क्षत्रिय कुमार ने मुझसे अग्निविद्या से सम्बन्धित पाँच प्रश्न किये। मैं उनमें से एक का भी सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सका। तब उसके पिता ने कहा कि 'तुमने ये जितने प्रश्न मुझसे कहे, मैं भी उनमें से एक प्रश्न का उत्तर नहीं जानता। यदि मुझे जानकारी होती, तो भला तुम्हें क्यों नहीं इसकी जानकारी देता ॥ ५ ॥'

स ह गौतमो राज्ञोऽर्थमेयाय तस्मै ह प्रासाद्यार्हाज्वकार स ह प्रातः सभाग उदेयाय  
तःहोवाच मानुषस्य भगवन्गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति स होवाच तवैव राजन्मानुषं  
वित्तं यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति स ह कृच्छ्रीबभूव ॥ ६ ॥

तब वह पिता और पुत्र (आरुणि और श्वेतकेतु) पुनः उस पाञ्चाल नरेश के समीप प्रश्नों की जिज्ञासा को लिए हुए आये। राजा ने अपने यहाँ आये उन दोनों (पिता और पुत्र) को सम्मानित किया। दूसरे दिन प्रातः काल गौतम गोत्रोत्पन्न वे दोनों राजा की सभा में गये। उस राजा ने कहा कि 'हे भगवन् गौतम! आप सांसारिक धन का वरदान हमसे प्राप्त कर लें। तब उन मुनि ने कहा- राजन्! ये मनुष्य सम्बन्धी धन आपके ही पास रहें; आपने मेरे पुत्र के प्रति जो बात (प्रश्नरूप से) कही थी, वही मुझे बताने की कृपा करें। यह सुनकर वह राजा अत्यन्त संकट में पड़ गया ॥ ६ ॥

तःह चिरं वसेत्याज्ञापयांचकार तः होवाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक्  
त्वतः पुरा विद्या ब्राह्मणानाच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै  
होवाच ॥ ७ ॥

पाञ्चाल नरेश ने उन दोनों (पिता और पुत्र) को अपने पास चिरकाल तक रहने की आज्ञा प्रदान की। उसने कहा- 'हे गौतम! जिस प्रकार आपने मुझसे कहा है, उसे आप यह समझें कि प्राचीन काल में यह अग्नि विद्या ब्राह्मण के पास नहीं गयी। इसी कारण से सभी लोकों में इस विद्या पर क्षत्रियों का ही अनुशासन रहा है। इस प्रकार कहकर उस राजा ने गौतम को अग्निविद्या का उपदेश दिया ॥ ७ ॥

### ॥ चतुर्थः खण्डः ॥

श्वेतकेतु से प्रवाहण ने जो प्रश्न पूछे थे, उनमें से पहले 'पाँचर्वीं आहुति में आपः पुरुष वाचक कैसे बन जाता है' इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है। इस प्रश्न के समाधान के साथ ही अन्य प्रश्नों के समाधान का मार्ग भी खुलता है। वेद ने इस सृष्टि को यज्ञमय कहा है। ऋषि स्थूल यज्ञ की उपमा देते हुए सृष्टिचक्र के विभिन्न चरणों को खुलाते हैं। द्युलोक में पहली आहुति से सोम, अंतरिक्ष में दूसरी आहुति से वर्षा, पृथ्वी पर तीसरी आहुति से अन्न, समझाते हैं। द्युलोक में चौथी आहुति से वीर्य तथा नारी में पाँचर्वीं आहुति से पुरुषवाची जीव की उत्पत्ति होती है। प्रश्न था 'आपः' पुरुष में चौथी आहुति से वीर्य तथा नारी में पाँचर्वीं आहुति से पुरुषवाची जीव की उत्पत्ति होती है।' श्रद्धा - आपः' अर्थात् श्रद्धा और आपः पुरुष वाची कैसे बन जाता है। प्रथम आहुति श्रद्धा की कही गयी है। 'श्रद्धा - आपः' अर्थात् श्रद्धा और आपः पर्यायवाची शब्द हैं। वेद ने आपः को ब्रह्म के तप से उत्पन्न सृष्टि का मूल क्रियाशील पदार्थ माना है। प्रकारानन्तर से यह चक्र 'ब्राह्मी चेतना' के 'जीव चेतना' के रूप में प्रकट होने तक के रहस्यात्मक चरणों को प्रकट करता है-

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रशमयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा  
नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

हे महर्षि गौतम! यह प्रसिद्ध द्युलोक ही अग्नि है। आदित्य ही उस अग्नि की समिद् (ईधन) है, किरणें ही धूम्र हैं, दिन ही ज्वाला है, चन्द्रमा ही अङ्गार और नक्षत्र ही विस्फुलिङ्ग (चिनगारियाँ) हैं ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्रौ देवाः श्रद्धां जुहुति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति ॥ २ ॥

उस द्युलोक रूप अग्नि में देवगण श्रद्धा का यजन करते हैं। उस आहुति से राजा सोम का प्रादुर्भाव होता है ॥ २ ॥

[ सृष्टि यज्ञ के प्रथम चरण में श्रद्धा अथवा आपः तत्त्व के यजन से सोम अर्थात् आधारभूत पोषक प्रवाह की उत्पत्ति होती है । ]

## ॥ पञ्चमः खण्डः ॥

**पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदध्रं धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा हादुनयो विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥**

हे गौतम ! (इस अग्नि विद्या के अन्तर्गत) पर्जन्य ही अग्नि है, वायु ही समिधायें हैं, बादल ही धूम्र है, विद्युत् ही उसकी ज्वालाएँ हैं, वज्र (उसका) अङ्गार और गर्जन ही विस्फुलिंग अर्थात् चिनगारियाँ हैं ॥१ ॥

**तस्मिन्नेतस्मिन्नग्रौ देवाः सोमः राजानं जुहूति तस्या आहुतेर्वर्षः संभवति ॥ २ ॥**

इस दिव्याग्नि में ही देवगण सामूहिक रूप से राजा सोम के निमित्त यजन करते हैं, उस विशेषाहुति से वर्षा का प्राकट्य होता है ॥ २ ॥

[ पर्जन्य उस लोक की उत्पादक क्षमता है। यजन के दूसरे चरण में सोम से वर्षा की उत्पत्ति होती है । ]

## ॥ षष्ठः खण्डः ॥

**पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव समिदाकाशो धूमो रात्रिर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥**

हे गौतम ! (इस क्रम में) पृथिवी ही अग्नि है। संवत्सर ही उसकी समिधाएँ हैं, आकाश ही धूम्र (धुआँ) है, रात्रि ही ज्वालाएँ हैं, दिशाएँ ही अङ्गरे और अवान्तर दिशाएँ अर्थात् कोने ही (विस्फुलिङ्ग) चिनगारियाँ हैं ॥१ ॥

**तस्मिन्नेतस्मिन्नग्रौ देवा वर्ष जुहूति तस्या आहुतेरन्नः संभवति ॥ २ ॥**

उस षष्ठ दिव्याग्नि में समस्त देवता वर्षा के निमित्त दिव्य आहुतियाँ समर्पित करते हैं; उस विशेष आहुति से अन्न का प्रादुर्भाव होता है ॥ २ ॥

[ यजन के तीसरे चरण में पृथिवी में दी गयी इस आहुति से जीवन तत्त्व अन्न के रूप में परिवर्तित हो जाता है । ]

## ॥ सप्तमः खण्डः ॥

**पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्याणो धूमो जिह्वार्चिश्वक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥**

हे गौतम ! पुरुष ही दिव्याग्नि है। उस (अग्नि विद्या) की वाक् ही समिधाएँ (ईधन) हैं। प्राण ही धूम्र (धुआँ) है। जिह्वा ही ज्वाला है, नेत्र अङ्गरे हैं तथा श्रोत्र (कान) ही विस्फुलिङ्ग अर्थात् चिनगारियाँ हैं ॥१ ॥

**तस्मिन्नेतस्मिन्नग्रौ देवा अन्नं जुहूति तस्या आहुते रेतः संभवति ॥ २ ॥**

उस दिव्याग्नि में सभी देवता मिलकर अन्न के निमित्त आहुति समर्पित करते हैं, उस विशेष आहुति से वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ की उत्पत्ति होती है ॥ २ ॥

[ इस चौथे चरण की आहुति के बाद अन्तःस्थ जीवन तत्त्व वीर्य में पोषक तत्त्व (आपः) शुक्राणु रूप में प्रकट हो जाता है । ]

## ॥ अष्टमः खण्डः ॥

**योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्युपमन्त्रयते स धूमो योनिर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥**

हे गौतम ! उस अग्नि विद्या की स्त्री ही दिव्याग्नि है। उसका उपस्थ (जननांग) ही समिधा अर्थात्

ईंधन है, विचार विमर्श ही उसका धूम्र है, योनि ही ज्वाला है। स्त्री-पुरुष का सान्तिध्य ही उस दिव्याग्नि के अङ्गरे हैं और आनन्दानुभूति ही (विस्फुलिङ्ग) चिनगारियाँ हैं॥ १॥

**तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुहृति तस्या आहुतेर्गर्भः संभवति ॥ २ ॥**

उस दिव्याग्नि में देवगण वीर्य का यजन करते हैं, उस विशिष्ट यजन कार्य से श्रेष्ठ गर्भ का अवतरण होता है॥

[ इस पाँचवीं आहुति के पकने पर प्रथम आहुति में होमा गया 'आपः ( मूल जीवन ) तत्त्व' काया में स्थित पुरुष वाचक 'जीव या प्राणी' के रूप में विकसित हो जाता है। ]

## ॥ नवमः खण्डः ॥

**इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति स उल्बावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते ॥ १ ॥**

इस तरह से अग्नि विद्या की पाँचवीं आहुति के प्रदान किये जाने पर आपः ( प्रथम आहुति में होमा गया श्रद्धारूप सृष्टि का मूल सक्रिय प्रवाह ) पुरुष रूप हो जाता है। वह गर्भ जरायु से ढका हुआ नौ या दस महीने अथवा जब तक पूर्ण अङ्ग विकसित नहीं होता, तब तक गर्भ के भीतर ही शयन करने के पश्चात् पुनः प्रादुर्भूत होता है॥ १॥

[ यहाँ तक अग्निविद्या का रहस्य प्रकट हो जाने पर पूछे गये पाँचवें प्रश्न का उत्तर स्पष्ट हो जाता है। इसके बाद पुरुष रूप में उत्पन्न प्रजा की गति सम्बन्धी अन्य प्रश्नों के समाधान प्रकट किये जाते हैं। ]

**स जातो यावदायुषं जीवति तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्न्य एव हरन्ति यत एवेतो यतः संभूतो भवति ॥ २ ॥**

इस प्रकार से जन्म होने पर वह अपनी निश्चित आयु तक जीवित रहता है। इसके बाद शरीर त्याग करने पर कर्मवश परलोक को गमन करते हुए उस प्राणी को अग्नि के समीप ले जाते हैं, जहाँ से वह आया था और जिससे प्रकट हुआ था॥ २॥

## ॥ दशमः खण्डः ॥

इस खण्ड में अग्निविद्या के पाँचों प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं-

**तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्गेति मासांस्तान् ॥ १ ॥**

जो इस पञ्चाग्नि विद्या को जानकर वन में रहते हुए श्रद्धा एवं तपपूर्वक उपासना करते हैं, वे सभी प्राण - प्रयाण के उपरान्त अर्चि ( तेज या किरण ) के अभिमानी देवताओं को प्राप्त करते हैं। अर्चि से दिवसाभिमानी देवताओं को, दिन से शुक्ल पक्षाभिमानी देवताओं को और शुक्ल पक्ष से उत्तरायण ( जिनमें सूर्य उत्तर मार्ग में गमन करता है ) के छः मासों को प्राप्त करते हैं॥ १॥

**मासेभ्यः संवत्सरः संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषो - उमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥ २ ॥**

उन उत्तरायण के छः मासों के माध्यम से संवत्सर को प्राप्त करते हैं, आदित्य को संवत्सर से, चन्द्रमा को आदित्य से और विद्युत् ( द्युतिमान् ) को चन्द्रमा से प्राप्त करते हैं। वहाँ पर एक अतीन्द्रिय सामर्थ्य से युक्त पुरुष है। वह उसे परब्रह्म को प्राप्त करा देता है। वही देवयान मार्ग है॥ २॥

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिः  
रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्वदक्षिणैति मासाःस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥ ३ ॥

इसके बाद जो यह सभी गृहस्थ लोग ग्राम में निवास करते हुए इष्ट, पूर्त और दत्त (अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म- इष्ट; वापी, कूप, तड़ाग एवं बगीचे आदि पूर्त के अन्तर्गत और वेदी आदि से बाहर सत्पात्र व्यक्तियों को यथाशक्ति दान देना ही 'दत्त' कहलाता है।) ऐसी उपासना करते हैं। वे धूम को प्राप्त करते हैं, धूम से रात को, रात से कृष्ण पक्ष को और कृष्ण पक्ष से दक्षिणायन के (जिनमें सूर्य दक्षिण मार्ग से गमन करता है) छः मासों को प्राप्त करते हैं। ये लोग संवत्सर को नहीं प्राप्त कर पाते हैं ॥ ३ ॥

**मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तदेवानामन्तं देवा भक्षयन्ति ॥ ४ ॥**

दक्षिणायन के महीनों से पितर लोक को प्राप्त होते हैं। पितृलोक से आकाश को और आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त करते हैं। यह चन्द्रमा ही राजा सोम है। वह सभी देवों का अन्न है, समस्त देव गण उसका भक्षण करते हैं ॥ ४ ॥

**तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवति ॥ ५ ॥**

वहाँ जब तक कर्मों का क्षय होता है, तब तक उस चन्द्र-मण्डल में निवास करने के बाद इस आगे कहे गये मार्ग से ही पुनः वापस लौट आते हैं। वे पहले आकाश को प्राप्त होते हैं। आकाश से वायु को प्राप्त करने के उपरान्त, वायुभूत होकर वे धूम होते हैं और धूम होकर ही अभ्र (मेघरूप) हो जाते हैं ॥ ५ ॥

**अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पति-यस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिङ्गति तद्दूय एव भवति ॥ ६ ॥**

वह अभ्ररूप होकर मेघ होता है, मेघ होकर वृष्टि करता है, तब वे सभी प्राणी इस लोक में धान, यव (जौ), ओषधि, वनस्पति, उड़द और तिल आदि होकर प्रादुर्भूत होते हैं। इस भाँति यह निष्क्रमण निश्चित ही अत्यन्त कष्टप्रद है। उस अन्न को जो-जो भक्षण करता है और जो-जो उससे उत्पन्न वीर्य का सेवन करता है, वह जीव तद्रूप ही हो जाता है ॥ ६ ॥

**तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्र्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ॥ ७ ॥**

उन सभी जीवों में जो श्रेष्ठ, सुन्दर आचरण वाले होते हैं, वे शीघ्र ही उत्कृष्ट योनि को प्राप्त होते हैं। वे सभी जीव ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य आदि श्रेष्ठ योनि को प्राप्त करते हैं। जो अशुभ अपवित्र आचरण वाले होते हैं, वे तत्क्षण ही अशुभ योनि को प्राप्त होते हैं। ऐसे जीव कुत्ते की योनि या सूकर योनि अथवा चाण्डाल (क्रूर कर्मी) योनि को प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥

**अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व  
मियस्वेतत्तृतीयः स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते तस्माज्जुगुप्तेत तदेष श्लोकः ॥ ८ ॥**

वे प्राणी जो इनसे पूर्व कहे गये किसी अन्य मार्ग से गमन नहीं करते हैं, वे सभी (निम्न प्राणी मच्छर और कीड़े-मकोड़े आदि) बारम्बार जन्मने-मरने वाले प्राणी ही होते हैं। जीवन धारण करना और शरीर त्याग करना ही उनका मुख्य तृतीय स्थान कहा गया है। इसलिए इस प्रकार की सांसारिक गति में अत्यधिक आसक्ति नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार घोर संसाररूपी महासागर से पतन की रक्षा स्वयं करने के लिए उद्यत होना चाहिए। इसी हेतु पञ्चाग्नि विद्या की प्रार्थना के लिए यह श्रोक प्रयुक्त किया गया है ॥

**स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबःश्च गुरोस्तत्पमावसन्न्वद्यहा च । एते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरःस्तैरिति ॥ ९ ॥**

सोने (स्वर्ण) का हरण करने वाले, मद्यपान करने वाले, गुरु की स्त्री से गमन करने वाले, ब्रह्म विद्या को जानने वालों की हत्या करने वाले - ये चार प्रकार के कृत्य व्यक्ति के पतन का कारण बनते हैं और पाँचवाँ कारण उन सभी के साथ किया गया संसर्ग (व्यवहार या आचरण) है ॥ ९ ॥

**अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्निवेद न स ह तैरप्याचरन्याप्नना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ १० ॥**

इस प्रकार से उपर्युक्त मन्त्रों में कही गई पञ्चाग्नि विद्या के महत्व को जो जानने में समर्थ है, वह उन सभी (लौकिक कर्मों) के साथ व्यवहार (संसर्ग) करता हुआ भी पापकृत कार्यों में लिस नहीं होता। इस विद्या को जो जानता है, वह श्रेष्ठ, शुद्ध और पवित्र पुण्यलोक का अधिकारी होता है ॥ १० ॥

## ॥ एकादशः खण्डः ॥

**प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्यज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भालवेयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसां चक्रः को नु आत्मा किं ब्रह्मेति ॥ १ ॥**

प्राचीनशाल के नाम से प्रख्यात उपमन्यु के पुत्र औपमन्यव, पुलुष के पुत्र पौलुषि, जो सत्यज्ञ के नाम से जाने जाते हैं, भल्वि के पुत्र भालवे और उसका पुत्र भालवेय जो इन्द्रद्युम्न के नाम से प्रतिष्ठित है, शर्कराक्ष का पुत्र जन शार्कराक्ष और अश्वतराश्व का पुत्र बुडिल-ये पाँचों सदगृहस्थ शास्त्र अध्ययन और सदाचार से युक्त आपस में विचार विमर्श करने लगे कि हमारी आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है ? ॥ १ ॥

**ते ह संपादयांचकुरुद्वालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तः हन्ताभ्यागच्छामेति तः हन्ताभ्याजग्मुः ॥ २ ॥**

विचार विमर्श करने के उपरान्त भी जब किसी ठोस निश्चय पर नहीं पहुँचे, तब उन पूज्य जनों ने अपना उपदेशक नियुक्त किया कि इस समय यह अरुण का पुत्र उद्वालक ही इस वैश्वानर आत्मा को भली-भाँति जानता है, इसलिए हम सभी उसी के पास चलें। ऐसा सोचकर वे सभी आरुण के पास आये ॥ २ ॥

**स ह संपादयांचकार प्रक्षयन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये हन्ताहमन्यमध्यनुशासानीति ॥ ३ ॥**

इस प्रकार आरुण ने उन महागृहस्थ और परम श्रोत्रिय जनों को देखकर यह निश्चय किया कि मैं इनको पूर्णरूपेण आश्रस्त नहीं कर सकता, ऐसा अपने मन में निश्चय करते हुए उसने उन सभी को दूसरा अन्य उपदेष्टा बतला दिया ॥ ३ ॥

[ उस समय कोई भी जानकार होने का दम्भ नहीं करता था। स्वयं की कमियाँ अपने प्रशंसकों के बीच भी स्वीकार करके, योग्य पुरुषों के साम्राज्य लाभ का प्रयास किया जाता था। ]

**तान्होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तः हन्ताभ्यागच्छामेति तः हाभ्याजग्मुः ॥ ४ ॥**

तत्पश्चात् आरुणि ने उनसे कहा कि हे पूजनीय गण! इस समय केकय के पुत्र कैकेय कुमार अश्वपति इस आत्मरूप वैश्वानर को पूर्णरूपेण जानते हैं। अतः हम सब उन्हीं के पास चलें। इस प्रकार कहते हुए वे सभी श्रेष्ठ महागृहस्थ एवं परम श्रोत्रिय कैकेय कुमार (अश्वपति) के पास चले गये ॥ ४ ॥

**तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथग्हर्षणि कारयांचकार स ह प्रातःसंजिहान उवाच न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान् स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्गगवद्ग्यो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति ॥ ५ ॥**

राजा अश्वपति ने अपने पास उपस्थित हुए उन सभी श्रेष्ठ ऋषियों का अलग-अलग स्वागत-सत्कार किया। दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही राजा अश्वपति ने उनसे कहा कि 'मेरे राज्य में न कोई चोर है, न कोई मद्यपान करने वाला है, न कोई अनाहिताग्नि है, न कोई यहाँ अल्पज्ञानी है और न ही कोई पर स्त्री गमन करने वाला है, तो कुलटा स्त्री कैसे हो सकती है। हे पूज्य ऋषियो! मैं (स्वयं) भी यज्ञ करने वाला हूँ। अतः आपसे प्रार्थना है कि हमारे यज्ञानुष्ठान तक यहीं निवास करने की कृपा करें। शास्त्राज्ञानुसार मैंने एक-एक ऋत्विक् को जितना धन प्रदान करने का संकल्प लिया है, उतना ही धन आप सभी को भी प्रदान करूँगा ॥

**ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्वरेत्तःहैव वदेदात्मानमेवेमं वैश्वानरः संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति ॥ ६ ॥**

वे समस्त ऋषिगण राजा अश्वपति से बोले कि 'जिस कार्य विशेष से कोई व्यक्ति कहीं प्रस्थान करता है, तो वहाँ उसे अपने उसी उद्देश्य को पूर्ण करना चाहिए'। अतः इस समय तो आप कृपा करके वैश्वानर आत्मा के सम्बन्ध में ही बताएँ ॥ ६ ॥

**तान्होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति ते ह समित्याणयः पूर्वाङ्गे प्रतिचक्रमिरे तान्हानुपनीयैवैतदुवाच ॥ ७ ॥**

तब उन ऋषियों से राजा अश्वपति ने कहा कि 'अच्छा, मैं कल प्रातःकाल आप सभी को इसके सन्दर्भ में बताऊँगा। दूसरे दिन पूर्वाङ्गकाल में वे सभी ऋषि हाथ में समिधाएँ ग्रहण किये हुए पहुँचे। उन सभी का बिना उपनयन किये ही (सुपात्र समझकर) राजा ने उन्हें वैश्वानर विज्ञान से युक्त उस विद्या को बताया ॥

## ॥ द्वादशः खण्डः ॥

**औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्म इति दिवमेव भगवो राजनिति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्मे तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ॥ १ ॥**

राजा अश्वपति ने उपमन्यु कुमार औपमन्यव से प्रश्न किया कि हे औपमन्यव! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं? उत्तर देते हुए ऋषिकुमार प्राचीनशाल ने राजा से कहा कि हे भगवन्! मैं द्युलोक की ही उपासना करता हूँ। राजा ने कहा कि " आप जिस आत्मा की उपासना करते हैं, वह निश्चय ही 'सुतेजा'

नाम से प्रसिद्ध श्रेष्ठ तेज युक्त वैश्वानर रूप आत्मा ही है, इसीलिए आपके कुल में सुत (अभिषुत सोम), प्रसुत (विशेषरूप से अभिषुत सोम) और आसुत (सर्वतोभावेन अभिषुत सोम) दृष्टिगोचर होते हैं, अर्थात् आपके परिवारी जन बड़े ही कर्मनिष्ठ (यज्ञनिष्ठ) हैं ॥ १ ॥

**अत्यन्नं पश्यसि प्रियमत्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच मूर्धा ते व्यपतिष्ठद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥**

राजा अश्वपति ने इसी क्रम में आगे फिर कहा कि आप अन्न का भक्षण करते हैं और पुत्र- पौत्रादि अपने प्रिय को देखते हैं। जो भी इस वैश्वानर रूप आत्मा की इस प्रकार उपासना करते हैं, वे अन्न का भक्षण और अपने श्रेष्ठ इष्ट का दर्शन करते हुए अपने कुल में ब्रह्मतेज से युक्त होते हैं। राजा ने यह भी कहा कि 'यदि आप हमारे पास न आये होते, तो आपका मस्तक गिर जाता' ॥ २ ॥

## ॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

**अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलूषिं प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्ते इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्ते तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ॥ १ ॥**

तत्पश्चात् राजा अश्वपति ने सत्ययज्ञ से प्रश्न किया कि हे प्राचीन योग्य! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं? तब उस ऋषिकुमार ने कहा- 'हे पूज्य भगवन्! मैं आदित्य की उपासना करता हूँ। राजा ने आश्वस्त होते हुए कहा कि अवश्य ही वह विश्वरूप वैश्वानर आत्मा है, जिसकी कि आप स्वयं उपासना करते हैं। यही कारण है कि आपके वंश में पर्याप्त मात्रा में विश्वरूप साधन दृष्टिगोचर होते हैं ॥ १ ॥

**प्रवृतोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्यन्नं पश्यसि प्रियमत्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते चक्षुष्वे तदात्मन इति होवाचान्धो-भविष्यो यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥**

राजा ने कहा कि आपके पास हार से सुसज्जित दासियाँ एवं खच्चरों से जुता हुआ रथ भी विद्यमान है। आप अन्न का भक्षण और प्रिय-इष्ट का दर्शन करते हैं। ऐसे श्रेष्ठ वंश में ब्रह्मतेज का निवास रहता है, लेकिन यह आत्मा का ही चक्षु है। राजा अश्वपति ने पुनः कहा कि यदि आप मेरे पास न आये होते, तो निश्चित ही अपने दोनों नेत्रों से रहित हो जाते ॥ २ ॥

## ॥ चतुर्दशः खण्डः ॥

**अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भालवेयं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्ते इति वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्ते तस्मात्त्वां पृथग्बलय आयन्ति पृथग्ग्रथश्रेणयोऽनुयन्ति ॥ १ ॥**

इसके बाद राजा अश्वपति ने भालवेय इन्द्रद्युम्न से पूछा कि - हे वैयाघ्रपद्य! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं? उसने कहा- 'हे भगवन्! मैं वायुदेव की उपासना करता हूँ।' राजा ने पुनः कहा कि आप जिस श्रेष्ठ आत्मा की उपासना करते हैं, वह निश्चय ही पृथग्वर्त्मा (अलग-अलग मार्गों वाला आवह, उद्वह आदि भेदों से युक्त) वैश्वानर आत्मा है। इस कारण से आपके पास भिन्न-भिन्न (अन्न, वस्त्र आदि) उपहार आते हैं तथा आपके पीछे अलग-अलग रथ की श्रेणियाँ चलती हैं ॥ १ ॥

अत्प्यन्नं पश्यसि प्रियमन्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं  
वैश्वानरमुपास्ते प्राणस्त्वेष आत्मन इति होवाच प्राणस्त उदक्रमिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

राजा ने उस ऋषि कुमार से कहा कि आप अन्न का भक्षण और अपने प्रिय-इष्ट का दर्शन करते हैं। जो भी कोई उचित रीति से इस वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है, वह प्रिय का दर्शन एवं अन्न का भक्षण करता है तथा उसके कुल में ब्रह्मतेज का निवास रहता है। यह आत्मा का प्राण ही है, ऐसां कहते हुए राजा अश्वपति ने कहा कि यदि आप मेरे पास न आते, तो आपका प्राण ही निकल जाता' ॥ २ ॥

## ॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

अथ होवाच जनः शार्कराक्ष्यं कं त्वमात्मानमुपास्स इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति होवाचैष  
वै बहुल आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च ॥ १ ॥

इसके अनन्तर राजा अश्वपति ने शार्कराक्ष के पुत्र जन से कहा- हे शार्कराक्ष्य ! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं ? तब उस ऋषिकुमार ने कहा- 'हे पूज्य राजन् ! मैं आकाश तत्त्व की ही उपासना करता हूँ। राजा ने पुनः कहा कि यह निश्चय ही बहुल संज्ञक (विभिन्न संज्ञाओं से युक्त) वैश्वानर आत्मा है। इसी से आप पुत्र - पौत्रादि के रूप में प्रजा और स्वर्णादि धन से परिपूर्ण हैं ॥ १ ॥

अत्प्यन्नं पश्यसि प्रियमन्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं  
वैश्वानरमुपास्ते संदेहस्त्वेष आत्मन इति होवाच संदेहस्ते व्यशीर्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥

राजा ने फिर कहा कि आप अन्न का भक्षण और अपने प्रिय अर्थात् इष्ट का दर्शन करते हैं। जो इस वैश्वानर आत्मा की इस भाँति से उपासना करता है, वह अन्न का भक्षण एवं प्रिय का दर्शन करता है और उसके कुल में ब्रह्मतेज का निवास होता है। यह आत्मा का उदर (शरीर का मध्य भाग) ही है। आगे राजा अश्वपति ने यह भी कहा कि 'यदि आप मेरे पास न आते, तो आपका संदेह (शरीर का मध्य भाग अर्थात् उदर) ही नष्ट हो जाता' ॥ २ ॥

## ॥ षोडशः खण्डः ॥

अथ होवाच बुद्धिलमाश्वतराश्चिं वैयाघ्रपद्यं कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यप एव भगवो  
राजन्निति होवाचैष वै रयिरात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं  
रयिमान्पुष्टिमानसि ॥ १ ॥

इसके पश्चात् राजा अश्वपति ने बुद्धिल से प्रश्न किया कि हे वैयाघ्रपद्य ! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं ? तब उन ऋषि कुमार ने कहा- हे पूज्य भगवन् ! मैं तो जल तत्त्व की उपासना करता हूँ। राजा ने पुनः कहा कि 'आप जिस जल तत्त्व की उपासना करते हैं, वह निश्चय ही रयिवान् (धनवान्) वैश्वानर आत्मा है। इसी कारण आप (धनवान्) रयिमान् एवं पुष्टिमान् हैं ॥ १ ॥

अत्प्यन्नं पश्यसि प्रियमन्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं  
वैश्वानरमुपास्ते बस्तिस्त्वेष आत्मन इति होवाच बस्तिस्ते व्यभेत्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥

आप अन्न का भक्षण एवं प्रिय (इष्ट) का दर्शन करते हैं। जो मनुष्य इस वैश्वानर रूप आत्मा की उपासना इस तरह से करता है, वह अन्न का भक्षण एवं प्रिय का दर्शन करता है। उसके कुटुम्ब में ब्रह्मतेज का सम्प्रिष्य होता है, किन्तु यह आत्मा का बस्ति (मूत्राशय) ही है। राजा अश्वपति ने यह भी कहा कि 'यदि आप हमारे पास न आते, तो आपका बस्ति स्थान (मूत्राशय) ही फटकर नष्ट हो जाता' ॥ २ ॥

## ॥ सप्तदशः खण्डः ॥

अथ होवाचोदालकमारुणिं गौतम कं त्वमात्मानमुपास्स इति पृथिवीमेव भगवो  
राजन्निति होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं प्रतिष्ठितोऽसि  
प्रजया च पशुभिश्च ॥ १ ॥

तदनन्तर राजा अश्वपति ने अरुण के पुत्र उदालक से प्रश्न किया कि 'हे गौतम ! आपने किस आत्मा की उपासना की है ?' तब उन ऋषिकुमार ने उत्तर दिया कि हे राजन् ! मैं पृथ्वी तत्त्व की उपासना करता हूँ । राजा ने फिर कहा कि आप जिस तत्त्व की उपासना करते हैं, वह निश्चय ही प्रतिष्ठा संज्ञक (पगरूप) वैश्वानर आत्मा है । इसकी कृपा से आपको प्रजा एवं पशुओं की प्राप्ति हुई ॥ १ ॥

अत्यन्नं पश्यसि प्रियमत्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं  
वैश्वानरमुपास्ते पदौ त्वेतावात्मन इति होवाच पादौ ते व्यम्लास्येतां यन्मां नागमिष्य इति ॥ -

राजा ने कहा कि हे ऋषि कुमार ! आप अन्न का भक्षण करते हैं और प्रिय (इष्ट) का दर्शन करते हैं । आत्मा रूप वैश्वानर की जो इस भाँति उपासना करता है । वह अन्न का भक्षण और प्रिय का दर्शन करता है । उसके कुल में ब्रह्मतेज भी रहता है, किन्तु यह आत्मा के चरण ही हैं, इस प्रकार अश्वपति ने कहते हुए आगे यह भी कहा- यदि आप मेरे समक्ष न आते, तो आपके चरण अत्यन्त निष्क्रिय हो जाते ॥ २ ॥

## ॥ अष्टादशः खण्डः ॥

तान्होवाचैते वै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वाऽसोऽन्नमत्थ यस्त्वेतमेवं  
प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु  
सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ॥ १ ॥

राजा अश्वपति ने उन सभी ऋषि कुमारों को संबोधित करते हुए कहा कि आप सभी इस वैश्वानर स्वरूप आत्मा को पृथक्-पृथक् जानते हुए अन्न खाते हैं । जो भी मनुष्य 'यही मैं हूँ' इस प्रकार अपने अहं का हेतु होने वाले इस प्रादेश मात्र (अर्थात् द्यु मूर्धा से लेकर पृथ्वी पाद पर्यन्त) अर्थात् वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है, वह सभी लोकों में, सभी प्राणियों में और सभी आत्माओं में अन्न का भक्षण करता है ॥ १ ॥

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धेव सुतेजाश्कुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा  
संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिलोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो  
मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥ २ ॥

आगे राजा ने कहा कि इस वैश्वानर आत्मा का मस्तक ही द्युलोक है, नेत्र ही सूर्य है, प्राण ही वायु है, शरीर के बीच का भाग ही आकाश है, बस्ति ही जल है, पृथ्वी ही दोनों पैर हैं, वक्ष ही वेदी है, रोमकूप ही दर्भ (कुश) हैं, हृदय ही गार्हपत्याग्नि है, मन ही दक्षिणाग्नि है और मुँह ही आहवनीय अग्नि के समान है, क्योंकि इसी में अन्न का हवन होता है ॥ २ ॥

[ऋषि पुत्र विराट् वैश्वानर के एक -एक अंग की ही उपासना करते थे । किसी एक अंग में स्थित आत्मा की उपासना से आत्म तत्त्व की अनुभूति तो की जा सकती है, किन्तु उसे वहीं तक सीमित नहीं रखा जा सकता । उस विराट् को यदि किसी अंग में सीमित करने की भूल की जायेगी, तो वह विराट् अपने सतत प्रवाह को बनाए रखने के लिए उस अंग विशेष को क्षति पहुँचा सकता है । इसीलिए राजा अश्वपति द्वारा ऋषि पुत्रों के अंग- विशेषों की हानि की संभावना व्यक्त की गयी थी । ]

## ॥ एकोनविंशः खण्डः ॥

**तद्यद्दक्तं प्रथममागच्छेतद्वोमीयस् यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति ॥ १ ॥**

इस प्रकार जो पक्कान्न (पकाया हुआ भोजन) भोजनार्थ सर्वप्रथम आये, उससे यज्ञ करना चाहिए। वह प्रथम आहुति जो “प्राणाय स्वाहा” मन्त्र के साथ समर्पित की जाती है, उससे प्राण तृप्त होता है ॥ १ ॥

**प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि तृप्यन्त्यां यत्किंच द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥**

प्राण के तृप्त होते ही चक्षु तृप्त होते हैं, चक्षुओं के तृप्त होने पर सूर्य तृप्त होता है, सूर्य के तृप्त होते ही द्युलोक तृप्त होता है। द्युलोक के तृप्त होते ही जिस किसी पर द्युलोक और आदित्य (स्वामिभाव से) प्रतिष्ठित हैं, वह भी तृप्त होता है। उसके तृप्त होने पर स्वयं भोजन करने वाला प्रजा; पशु, अन्न आदि के साथ तेज (शारीरिक) कान्ति और ब्रह्मतेज (ज्ञानजन्य तेज) द्वारा तृप्त होता है ॥ २ ॥

## ॥ विंशः खण्डः ॥

**अथ यां द्वितीयां जुहुयात्तां जुहुयाद्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति ॥ १ ॥**

इसके पश्चात् जो दूसरी आहुति समर्पित की जाए, उस समय ‘व्यानाय स्वाहा’ मंत्र का उच्चारण करना चाहिए। इस प्रकार से व्यान को तृप्ति प्राप्त होती है ॥ १ ॥

**व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यन्ति दिक्षु तृप्यन्तीषु यत्किंच दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥**

व्यान के तृप्त होते ही कर्णेन्द्रिय तृप्त होती है, श्रोत्र के तृप्त होने पर चन्द्रमा तृप्त होता है, चन्द्रमा के तृप्त होने पर दिशाएँ एवं दिशाओं के तृप्त होने पर जिस किसी पर चन्द्रमा एवं दिशाएँ (स्वामिभाव से) स्थित हैं, वह निश्चय ही तृप्त होता है। उसकी तृप्ति के बाद वह भोक्ता (भोजन करने वाला) प्रजा, पशु, अन्न आदि के साथ तेज एवं ब्रह्मतेज द्वारा तृप्ति को प्राप्त करता है ॥ २ ॥

## ॥ एकविंशः खण्डः ॥

**अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयादपानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति ॥ १ ॥**

तत्पश्चात् तृतीय आहुति ‘अपानाय स्वाहा’ मंत्र के साथ देनी चाहिए। इससे अपान तृप्त होता है ॥ १ ॥

**अपाने तृप्यति वाकृप्यति वाचि तृप्यन्त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथिव्यां तृप्यन्त्यां यत्किंच पृथिवी चाग्निश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥**

‘अपान’ के तृप्त होते ही वागिन्द्रिय तृप्ति को प्राप्त होती है, वाणी के तृप्त होने पर अग्नि को तृप्ति मिलती है, अग्नि के तृप्त होते ही पृथिवी को तृप्ति प्राप्त होती है एवं पृथिवी के तृप्त होने पर जिस किसी पर पृथिवी और अग्नि (स्वामिभाव से) स्थित हैं, वह तृप्त होता है, तत्पश्चात् प्रजा, पशु, अन्न, तेज और ब्रह्मतेज के द्वारा तृप्ति को प्राप्त करता है ॥ २ ॥

## ॥ द्वाविंशः खण्डः ॥

अथ यां चतुर्थीं जुहयात्तां जुहयात्समानाय स्वाहेति समानस्तृप्यति ॥ १ ॥

तत्पश्चात् चतुर्थ आहुति 'समानाय स्वाहा' मन्त्र के साथ देनी चाहिए। इससे 'समान' तृप्त होता है ॥

समाने तृप्यति मनस्तृप्यति मनसि तृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति विद्युति तृप्यन्त्यां यत्किंच विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

समान के तृप्त होते ही मन को तृप्ति मिलती है, मन के तृप्त होते ही पर्जन्य तृप्त होता है और पर्जन्य के तृप्त होने पर विद्युत् को तृप्ति प्राप्त होती है। विद्युत् के तृप्त होने पर वह स्वयं भी तृप्त हो जाता है, जिस पर पर्जन्य एवं विद्युत् आश्रित हैं। उसकी तृप्ति के पश्चात् प्रजा, पशु, अन्न के साथ तेज एवं ब्रह्मतेज द्वारा उपभोग करने वाला (भोक्ता) भी तृप्त हो जाता है ॥ २ ॥

## ॥ त्रयोविंशः खण्डः ॥

अथ यां पञ्चमीं जुहयात्तां जुहयादुदानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति ॥ १ ॥

तदनन्तर पाँचवीं आहुति समर्पित की जाए। यह आहुति 'उदानाय स्वाहा' मंत्र से देनी चाहिए। इस प्रकार के यजन कृत्य से उदान तृप्त होता है ॥ १ ॥

उदाने तृप्यति त्वक् तृप्यति त्वचि तृप्यन्त्यां वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यत्याकाश-स्तृप्यत्याकाशे तृप्यति यत्किंच वायुश्चाकाशश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

तदनन्तर उदान के तृप्त होने से त्वचा की तृप्ति होती है, त्वचा के तृप्त होने से वायु तृप्त होता है, वायु के तृप्त होने पर आकाश को तृप्ति मिलती है और आकाश के तृप्त होने से जिस किसी पर वायु और आकाश (स्वामिभाव से) स्थित होते हैं, वह निश्चय ही तृप्त हो जाता है। उसके तृप्त होने पर वह स्वयं भोक्ता (भोजन करने वाला) प्रजा, पशु, अन्न, तेज और ब्रह्मतेज द्वारा तृप्त हो जाता है ॥ २ ॥

## ॥ चतुर्विंशः खण्डः ॥

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहयात्तादृक्तस्यात् ॥ १ ॥

जो कोई इस उपर्युक्त वैश्वानर विद्या को बिना जाने ही यजन कृत्य करता है, उसके द्वारा किया हुआ यजन कृत्य ठीक उसी प्रकार है, जैसे कि आग के अंगारों को हटाकर भस्म में किया गया यज्ञ कार्य ॥ १ ॥

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु

हुतं भवति ॥ २ ॥

उपर्युक्त बताये हुए क्रम के अनुसार जो इस वैश्वानर विद्या को भली-भर्ति जानकर यज्ञ कार्य (अग्निहोत्र) सम्पन्न करता है, उसके द्वारा सभी लोक, समस्त प्राणिसमुदाय एवं सम्पूर्ण आत्माओं के निमित्त यजन कार्य सम्पन्न हो जाता है ॥ २ ॥

तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवःहास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥ ३ ॥

इस सन्दर्भ में यह उल्लेख भी है कि जिस तरह सींक का अग्रभाग अग्नि में प्रवेश करा देने से अतिशीघ्र जल जाता है, ठीक उसी तरह से जो यजमान इस भाँति जानने में समर्थ होकर यज्ञ कृत्य सम्पन्न करता है, उसके सभी प्रकार के पाप जलकर नष्ट हो जाते हैं ॥ ३ ॥

**तस्मादु हैवंविद्यद्यपि चण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे  
हुतःस्यादिति तदेष श्लोकः ॥ ४ ॥**

इस विद्या का जानकार यदि भोजन से उच्छिष्ट (बचा हुआ) पदार्थ चाण्डाल को दे, तो वह कृत्य आत्मा रूप वैश्वानर में यज्ञ करने के समान है। प्रस्तुत विषय में यह मन्त्र कहा गया है ॥ ४ ॥

**यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते । एवंसर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासत  
इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ॥ ५ ॥**

जिस भाँति इस संसार में क्षुधित बालक सब प्रकार से माँ की उपासना (प्रतीक्षा) करते हैं। ठीक उसी भाँति संसार के समस्त प्राणि-समुदाय इस ज्ञानी के हव्य रूप यजन कृत्य की उपासना करते हैं ॥ ५ ॥

## ॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

### ॥ प्रथमः खण्डः ॥

पाँचवें अध्याय में यह बताया गया है कि अग्निहोत्र के यथार्थ स्वरूप की जानकारी रखने वाले एक विशेषज्ञ के कार्य से सभी प्राणि-समुदाय तृप्त हो जाते हैं; किन्तु ऐसी सम्भावना तभी की जा सकती है, जब समस्त प्राणियों में एक ही आत्मा का आधिपत्य स्थापित हो। प्रस्तुत विषय का विस्तार से इस छठे अध्याय में उल्लेख किया गया है-

**श्वेतकेतुहर्फुणोय आस तःह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यम् । न वै  
सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥ १ ॥**

अरुण के पौत्र श्वेतकेतु को उसके पिता (उद्दालक) ने ब्रह्मचर्य के महत्व को प्रतिपादित करते हुए उसे ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश की अनुमति प्रदान की। उसके पिता ने उसे संबोधित करते हुए कहा कि हमारे वंश में जन्म लेने वाला कोई भी बालक ब्रह्म विद्या के अध्ययन के बिना ब्रह्मबन्धु की भाँति नहीं होता ॥ [ब्रह्म बन्धु उसे कहते हैं, जो ब्राह्मणों जैसा आचरण नहीं कर पाता; किन्तु उनसे सम्बद्ध होता है। ऋषि के कथन का भाव है कि उनके कुल में सभी आचरण निष्ठ ब्रह्मज्ञ होते हैं ।]

**स ह द्वादशवर्षे उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध  
एयाय तःह पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः ॥**

इस प्रकार से उसके पिता द्वारा उपदेश दिये जाने पर श्वेतकेतु ने मात्र १२ वर्ष की उम्र में ही अपने आचार्य के सान्निध्य में उपस्थित रहकर २४ वर्ष की उम्र तक वेदों का अध्ययन-अनुशीलन किया। तत्पश्चात् वह स्वयं को बड़ा अध्ययनरत एवं विद्वान् अनुभव करते हुए स्वाभिमान के साथ पिता के सामने उपस्थित हुआ। पिता ने विपरीत स्वभाव वाले उद्दण्ड श्वेतकेतु से कहा- “क्या तुमने अपने आचार्य से परब्रह्म का उपदेश (ज्ञान) प्राप्त कर लिया है ।” ॥ २ ॥

**येनाश्रुतःश्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति । कथं नु भगवः स आदेशो  
भवतीति ॥ ३ ॥**

श्वेतकेतु के पिता उद्दालक ने पुनः उससे पूछा कि जिसके द्वारा अश्रुत (न सुना हुआ) श्रुत (सुना हुआ) हो जाता है, तर्क न करने वाला तर्क की विद्या में पारंगत हो जाता है; अविज्ञात (रहस्य से युक्त) विशेष रूप से ज्ञात हो जाता है, क्या यह सभी उपदेश तुम्हारे आचार्य ने तुम्हें प्रदान किए हैं। यह सुनकर श्वेतकेतु ने पूछा- भगवन्! यह उपदेश कैसा है? ॥ ३ ॥

**यथा सोम्यैकेन मृत्यिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातःस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥ ४ ॥**

उसके पिता ने पुनः कहा - हे सोम्य ! जिस प्रकार एक मृत्तिका पिण्ड से समस्त मिट्टी के बने हुए पदार्थों का बोध हो जाता है। वस्तुतः विभिन्न प्रकार के नाम तो केवल वाणी के ही विकार हैं। सत्य तो केवल एक मृत्तिका ही है ॥ ४ ॥

**यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातःस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ॥ ५ ॥**

उन्होंने कहा- हे सोम्य ! जैसे एक सुवर्ण पिण्ड द्वारा दूसरे अन्य सुवर्ण के पदार्थों (आभूषणों) का विशेष ज्ञान प्राप्त हो जाता है, क्योंकि विकार तो केवल वाणी के आश्रित नाम मात्र ही हैं, सुवर्ण ही एक मात्र सत्य है ॥ ५ ॥

**यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं काष्णायसं विज्ञातःस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवः सोम्य स आदेशो भवतीति ॥ ६ ॥**

हे सोम्य ! जिस तरह एक नख कर्तन करने वाली लोहे की नहनी के ज्ञान से समस्त लौह पदार्थों को भली-भाँति जान लिया जाता है। विकार (नाम) तो वाणी के निमित्त विषय हैं, सत्य तो केवल एक लोहा ही है ॥ ६ ॥

**न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्यतेतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवाःस्त्वेवमेतद्ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ७ ॥**

अपने पिता के इस प्रकार के वचनों को सुन कर श्वेतकेतु ने कहा- हे भगवन् ! वे मेरे पूज्य गुरुदेव इस ज्ञान को निश्चित ही नहीं जानते। यदि वे जानते, तो मुझसे क्यों न कहते। अतः हे भगवन् ! आप ही इसका उपदेश करें। तब उद्दालक ने कहा- 'अच्छा सोम्य ! मैं तुम्हें बतलाता हूँ' ॥ ७ ॥

### ॥ द्वितीयः खण्डः ॥

**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तद्वैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेक-मेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत ॥ १ ॥**

उद्दालक ने श्वेतकेतु को उपदेश करते हुए कहा- हे प्रिय सोम्य ! प्रारम्भ में एक मात्र अद्वितीय सत् ही था। उसके संदर्भ में कुछ लोग इस प्रकार कहते हैं कि आरम्भ में मात्र अद्वितीय असत् ही था और उस असत् से ही सत् की उत्पत्ति हुई ॥ १ ॥

**कुतस्तु खलु सोम्यैवः स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥ २ ॥**

उद्दालक ने कहा- हे सोम्य ! परन्तु यह कैसे हो सकता है? असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? हे सोम्य ! वास्तव में प्रारम्भिक अवस्था में यह एक मात्र अद्वितीय सत् ही था ॥ २ ॥

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत। तस्माद्यत्र क्वच शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते ॥ ३ ॥

आगे उसके पिता ने कहा- “उस (सत्) ने संकल्प किया कि मैं विभिन्न रूपों में उत्पन्न हो जाऊँ।” इस प्रकार इच्छा करते ही उस (सत्) से तेज की उत्पत्ति हुई। तत्पश्चात् उस तेज ने संकल्प किया कि ‘मैं भी बहुत हो जाऊँ।’ ऐसा संकल्प लेते ही उस (तेज) ने अप् तत्त्व (जल) की रचना की। अतः जब किसी को सन्ताप होता है, तो पसीना आ जाता है। उस समय उस तेज से ही जल की उत्पत्ति हो जाती है ॥ ३ ॥

**ता आप ऐक्षन्त बहूद्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त । तस्माद्यत्र क्वच वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्द्वय एव तदध्यन्नाद्यं जायते ॥ ४ ॥**

तदनन्तर उस आपः (जल) ने अपनी इच्छा व्यक्त की “मैं बहुत होकर उत्पन्न हो जाऊँ।” उस (जल) ने पृथ्वी रूपी अन्न की रचना की। इस कारण से जहाँ- कहीं वर्षा होती है, वहीं बहुत से अन्न की उत्पत्ति होती है। अतः विभिन्न प्रकार के अन्न जल से ही उत्पन्न होते हैं ॥ ४ ॥

[ऋषि पहले (अध्याय ५ में) स्पष्ट कर चुके हैं कि सृष्टि सृजनक्रम में पहली आहुति द्युलोक में हुई। सत् तेज बना- द्युलोक तेजस् का ही लोक कहा गया है। इस सृजन संकल्प युक्त तेजस् को ही वेद ने हिरण्यगर्भ कहा है। संकल्प पूर्वक उस तेजस् के विभाजन से अप् तत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ। इसे वेद ने सृष्टि का मूल क्रियाशील प्रवाह माना है। जिसे द्युलोक का जल भी कह सकते हैं। इस अप् प्रवाह के संकल्प से अति सूक्ष्म पदार्थकण (सब एटामिक पार्टिकल्स) बने, जिन्हें द्युलोक का पृथ्वी तत्त्व कह सकते हैं। दूसरे चरण में तेजस् सूर्यादि के रूप में व्यक्त हुआ। उस तेजस् के अप् तत्त्व में संघात से अन्तरिक्ष में परमाणु कणों और जल की उत्पत्ति हुई। उस जल और सूक्ष्म कणों के संयोग से स्थूल कणों के रूप में पृथ्वी तत्त्व बना। ऋषि दोनों चरणों की प्रक्रिया देखते हैं, इसलिए उनके कथन में, तेज, अप्, पृथ्वी आदि के सूक्ष्म-स्थूल, दृश्य-अदृश्य दोनों भाव मिले हुए हैं। उसी दृष्टि से उनके कथन का अर्थ स्पष्ट हो सकता है।]

## ॥ तृतीयः खण्डः ॥

**तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डं जीवजमुद्दिङ्गमिति ॥ १ ॥**

(तदनन्तर उदालक ने सृष्टि क्रम समझाते हुए श्वेतकेतु से और स्पष्ट करते हुए कहा- ) इन ख्याति प्राप्त प्राणियों के तीन ही बीज अण्डज, जरायुज और उद्भिज्ज होते हैं ॥ १ ॥

**सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्वो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ॥ २ ॥**

उस (सत्रूपी) देवता ने अपनी प्रचण्ड इच्छाशक्ति के माध्यम से संकल्प किया कि मैं इस “जीवात्मरूप से” इन तीनों (तेज, अप् एवं पृथ्वी) देवताओं में अनुप्रवेश कर नाम एवं उसके रूप को प्रकट करूँ ॥ २ ॥

**तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्वो देवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ॥ ३ ॥**

और उन सभी में से एक-एक देवता को त्रिवृत् अर्थात् तीन-तीन भागों में विभाजित करूँ। इस प्रकार का संकल्प करते हुए इस देवता ने जीवात्मरूप से उन तीनों देवों में प्रवेश करते हुए उनके नाम एवं रूप को स्पष्ट किया ॥ ३ ॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्त्रो देवतास्त्रि-  
वृत्तिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥ ४ ॥

उस देवता ने उन सभी में से हर एक को अलग-अलग त्रिवृत् अर्थात् तीन भागों में किया। हे पुत्र! जिस प्रकार ये तीनों देवता एक-एक करके (हर एक) त्रिवृत् (कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल रूप) हैं, वह मैं जानता हूँ॥ ४ ॥

### ॥ चतुर्थः खण्डः ॥

यदग्रे रोहितः रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्रेग्रित्वं  
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ १ ॥

तीन प्रकार से अलग-अलग की हुई अग्नि का जो रोहित (लाल) वर्ण है, वह तेज प्रकाश का ही रूप है। जो श्वेत वर्ण है, वह जल तत्त्व का रूप है और जो कृष्ण वर्ण है, वह अन्न तत्त्व का रूप है। इस भाँति अग्नि से अग्नित्व पृथक् हो गया, क्योंकि 'अग्नि' शब्द तो मात्र विकार वाणी से कहने के लिए नाम मात्र है। सत्य तो मात्र तीन रूप ही हैं॥ १ ॥

यदादित्यस्य रोहितः रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्या-  
पागादादित्यादादित्यत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ २ ॥

आदित्य का जो रोहित (लालिमा युक्त) वर्ण है, वह प्रकाश का ही रूप है, जो शुक्ल वर्ण है, वह जल तत्त्व का रूप है और जो कृष्ण वर्ण है, वह अन्न (पृथ्वी) का रूप है। अतः आदित्य से आदित्यत्व अलग हो गया, क्योंकि आदित्य रूप विकार वाणी पर आश्रित नाम मात्र है, मात्र तीन रूप ही सत्य स्वरूप हैं॥ २ ॥

यच्चन्द्रमसो रोहितः रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापा-  
गाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ३ ॥

चन्द्रमा में जो रोहित वर्ण है, वह प्रकाश का रूप है, जो श्वेत वर्ण है, वह जल का है और जो कृष्ण वर्ण है, वह अन्न (पृथ्वी) का रूप है। इस तरह चन्द्रमा चन्द्रत्व से निवृत्त हो गया। अतः विकार वाणी पर आश्रित नाम मात्र ही है, सत्य तो मात्र केवल तीन रूप ही हैं॥ ३ ॥

यद्विद्युतो रोहितः रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाद्विद्युतो  
विद्युत्त्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ४ ॥

विद्युत् का जो लाल वर्ण है, वह एक मात्र तेज (प्रकाश) का ही रूप है। जो शुक्ल वर्ण है, वह जल का स्वरूप है और जो काला वर्ण है वह अन्न (पृथ्वी) का रूप है। इसलिए विद्युत् से विद्युत्त्व अलग हो गया, क्योंकि विद्युत् रूप विकार वाणी पर आश्रित नाम मात्र ही है, तीन रूप ही केवल सत्य हैं॥ ४ ॥

एतद्व स्म वै तद्विद्वाः स आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य कश्चनाश्रुत-

ममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति होभ्यो विदांचक्रुः ॥ ५ ॥

इस प्रकार (त्रिवृत् के वर्णाकरण) का ज्ञान रखने वाले अतीतकालीन महागृहस्थ और महाश्रोत्रियों ने कहा कि वर्तमान काल में हमारे वंश में कोई बात अश्रुत और अविज्ञात है- ऐसा कोई भी नहीं कहेगा। अतः इन अग्नि आदि तत्त्वों के उदाहरण द्वारा वे लोग सभी कुछ जानते थे॥ ५ ॥

यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदाश्चकुर्यदु शुक्लमिवाभूदित्यपाः  
रूपमिति तद्विदाश्चकुर्यदु कृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदांचक्रुः ॥ ६ ॥

जो कुछ उन्हें रोहित सा (लाल रंग की भाँति) प्रतीत होता है, वह तेज का ही रूप है, जो कुछ शुक्ल सा प्रतीत होता है, वह जल का रूप है तथा जो काला रंग है, वह अन्न (पृथ्वी) का रूप है, ऐसे सभी रूपों की जानकारी उन्होंने प्राप्त की ॥ ६ ॥

**यद्विज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानाः समास इति तद्विदांचक्रुर्यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्त्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्तिवृदैकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥ ७ ॥**

इसके अतिरिक्त जो कुछ भी विशेष रूप से स्वीकार नहीं किया गया, वह भी इन तीनों देवों का ही समूह है, ऐसी जानकारी उन्होंने प्राप्त की। उद्दालक ने कहा- हे सोम्य ! मेरे द्वारा यह जानो, कि किस प्रकार ये तीनों देवता शरीर एवं इन्द्रियों के संघात रूप पुरुषत्व को प्राप्त करके तीन प्रकार से पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। (यह क्रम अगले खण्ड में स्पष्ट किया गया है।) ॥ ७ ॥

## ॥ पञ्चमः खण्डः ॥

**अन्नमश्तिं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्माः सं योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥ १ ॥**

जो अन्न भोजन के रूप में ग्रहण किया जाता है, वह तीन भागों में बँट जाता है। उस अन्न का जो स्थूलतम पदार्थ है, वह मल रूप में परिवर्तित हो जाता है, जो मध्यम अंश है, वह रसादि से युक्त होकर मांस के रूप में परिवर्तित हो जाता है और जो अति सूक्ष्म है, वह मन के रूप में परिणत हो जाता है ॥ १ ॥

**आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः ॥ २ ॥**

जो जल ग्रहण किया जाता है, वह तीन प्रकार से विभक्त हो जाता है। उस (जल) का स्थूल भाग मूत्र बनता है, मध्यम अंश रक्त के रूप में परिवर्तित हो जाता है और सूक्ष्म अंश प्राण बन जाता है ॥ २ ॥

**तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक् ॥ ३ ॥**

जो तेज ग्रहण किया जाता है, वह भी तीन रूपों में विभाजित हो जाता है। उस (तेज) का स्थूल भाग हड्डी के रूप में, मध्यम भाग मज्जा के रूप में और अत्यन्त सूक्ष्म अंश वाणी के रूप में परिणत हो जाता है ॥

**अन्नमयः हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ४ ॥**

उद्दालक ने पुनः कहा- 'हे सोम्य ! अन्न का कार्य मन, जल का कार्य प्राण और तेज का कार्य वाणी है।' श्वेतकेतु ने कहा- 'हे भगवन् ! आप कृपा करके यह बात पुनः स्पष्ट करने की कृपा करें।' तब उद्दालक ने फिर से मार्गदर्शन देने हेतु उसे आश्रस्त किया ॥ ४ ॥

## ॥ षष्ठः खण्डः ॥

**दधः सोम्य मध्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्भवति ॥ १ ॥**

श्वेतकेतु के पिता उद्दालक ने पुनः कहा- हे सोम्य ! दही को मथने के पश्चात् उसका जो सूक्ष्म भाग एकत्रित होता है, वही ऊर्ध्व की ओर गमन करते हुए घृत के रूप में परिणत होता है ॥ १ ॥

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तमनो भवति ॥ २ ॥

हे सोम्य ! ठीक इसी तरह अन्न को पूर्ण रूप से ग्रहण करने के पश्चात् उसका जो सूक्ष्मतम भाग एकत्रित होता है, वही ऊर्ध्व की ओर गमन करते हुए मन रूप में परिणत होता है ॥ २ ॥

अपां सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति ॥ ३ ॥

हे सोम्य ! पान किये हुए जल का जो सूक्ष्मतम भाग है, वही ऊपर आकर एकत्रित होता है । तत्पश्चात् वही ऊपर आया हुआ भाग प्राण तत्त्व के रूप में परिवर्तित हो जाता है ॥ ३ ॥

तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति ॥ ४ ॥

हे सोम्य ! इसी प्रकार ग्रहण किये हुए तेज का सूक्ष्मतम भाग सार रूप से ऊपर आ जाता है, वही वाणी के रूप में प्रकट होता है ॥ ४ ॥

अन्नमयः हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ५ ॥

इस प्रकार उद्दालक ने श्वेतकेतु से कहा- हे प्रिय सोम्य ! मन अन्न के रूप में, प्राण जल के रूप में और वाणी तेजोमय रूप में है । तदनन्तर ऐसा श्रवण करते हुए श्वेतकेतु ने पुनः निवेदन किया- हे भगवन् ! कृपया आप मुझे पुनःसमझाने की कृपा करें । इस पर उसके पिता ने बताने का पुनः आश्वासन दिया ॥ ५ ॥

### ॥ सप्तमः खण्डः ॥

घोडशकलः सोम्य पुरुषः पञ्चदशाहानि माशीः काममपः पिबापोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्प्यत इति ॥ १ ॥

(उद्दालक ने कहा)- हे सोम्य ! यह मनुष्य सोलह कलाओं से युक्त है । इसलिए तुम पन्द्रह दिन तक भोजन न ग्रहण करते हुए इच्छानुसार मात्र जल का ही सेवन करो । चूँकि प्राण, जल रूप है, अतः मात्र जल के सेवन से उस (प्राण) का नाश नहीं होगा ॥ १ ॥

स ह पञ्चदशाहानि नाशाथ हैनमुपससाद किं ब्रवीभि भो इत्यृचः सोम्य यजूःषि सामानीति स होवाच न वै मा प्रतिभान्ति भो इति ॥ २ ॥

तदनन्तर श्वेतकेतु ने पंद्रह दिन तक भोजन नहीं ग्रहण किया । इसके बाद वह अपने पिता के समीप आकर बोला- हे भगवन् ! मैं क्या करूँ । तब उसके पिता आरुण ने कहा- हे सोम्य ! तुम ऋक्, यजुः और साम के मन्त्रों का उच्चारण करो । उसने कहा- भगवन् ! मेरे मन में उन सभी की प्रतीति नहीं हो रही है ॥ २ ॥

तः होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात्तेन ततोऽपि न बहु दहेदेवः सोम्य ते घोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टा स्यात्तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्यशानाथ मे विज्ञास्यसीति ॥ ३ ॥

तब उद्दालक ने कहा - हे सोम्य ! जैसे पर्यास परिमाण में ईंधन के प्रज्वलित होने पर आग का खद्योत के समान एक छोटा सा अंगारा शेष रह जाए, तो वह अधिक गर्मी नहीं प्रदान कर सकता । वैसे ही तुम्हारी घोडश (सोलह) कलाओं में से मात्र एक ही कला शेष है । इसलिए मात्र एक कला से तुम वेद का अध्ययन- अनुशीलन नहीं कर सकते हो । अतः अब तुम भोजन ग्रहण करो, तभी तुम्हारी समझ में आयेगा ॥ ३ ॥

स हाशाथ हैनमुपससाद तःह यत्किञ्च पप्रच्छ सर्वःह प्रतिपेदे ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् श्वेतकेतु ने अपने पिता के कहने पर भोजन ग्रहण किया। भोजन करने के उपरान्त वह अपने पिता के पास उपस्थित हुआ। पिता ने जो भी पूछा, उसे सब कुछ स्मरण हो गया ॥ ४ ॥

तःहोवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तृणौरुपसमाधाय प्राज्वलयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेत् ॥ ५ ॥

तदनन्तर आरुणि ने कहा- ‘हे सोम्य! जब विशाल अग्नि शान्त हो जाए और उसका एक छोटा सा अंगारा मात्र शेष रह जाए, उस समय बचे हुए अंगारे पर तुण रखकर उसे धीरे-धीरे सुलगाया जाए, तो वह पहले की तरह ही सबको प्रज्वलित कर सकता है’ ॥ ५ ॥

एवः सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टाभूत्सान्नेनोपसमाहिता प्राज्वालीन्त्यैतर्हि वेदाननुभवस्यन्नमयःहि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति तद्वास्य विज्ञाविति विज्ञाविति ॥ ६ ॥

वैसे ही है प्रिय सोम्य! तुम्हारी सोलह कलाओं में से एक ही कला शेष रह गयी थी। तत्पश्चात् वह अन्न द्वारा पुनः प्रज्वलित हो गई। उसी के माध्यम से तुम वेदों को जानने में समर्थ हो सके। हे प्रिय सोम्य! इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मन अन्न रूप है, प्राण जल रूप है और वाणी तेज स्वरूप है। इस प्रकार श्वेतकेतु ने अपने पिता द्वारा कहे हुए उपदेश पूर्णरूपेण आत्मसात् कर लिये ॥ ६ ॥

## ॥ अष्टमः खण्डः ॥

उद्वालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनः स्वपितीत्याचक्षते स्वः ह्यपीतो भवति ॥ १ ॥

अरुण के पुत्र आरुणि जो उद्वालक के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा- हे सोम्य! तुम हमारे द्वारा बताये गये स्वप्र के स्वरूप को ठीक प्रकार समझ लो। जिस अवस्था में यह पुरुष शयन करता है, ऐसा कहा जाता है कि उस समय सत् से युक्त हो जाता है, अर्थात् अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इसलिए इसको ‘स्वपित’ कहा जाता है, क्योंकि उस समय यह स्व अर्थात् अपने आप को ही प्राप्त कर लेता ॥ १ ॥

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनः हि सोम्य मन इति ॥ २ ॥

हे सोम्य! जैसे कोई शकुनि (बाज पक्षी) सूत्र में बँधने के बाद चतुर्दिक् उड़ते हुए कहीं आश्रय न प्राप्त कर अपने ही बन्धन के स्थान पर आ जाता है। ठीक वैसे ही, यह मन भी हर दिशा का भ्रमण करके कहीं भी अपना विश्रामालय न पाकर प्राण का ही अवलम्बन ग्रहण करता है। इसलिए हे सोम्य! यह मन, प्राण रूप बन्धन वाला है ॥ २ ॥

अशनापिपासे मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिष्टति नामाप एव तदशितं नयन्ते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति तत्रैतच्छुद्गमुत्पत्तिः सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥ ३ ॥

आरुणि ने कहा- ‘हे सोम्य! अब तुम क्षुधा और पिपासा के रहस्य को समझो’। जिस समय पुरुष भोजन ग्रहण करने की इच्छा करता है, उस समय खाये हुए भोजन (अन्न) को जल ही ले जाता है। जैसे गौं ले जाने वाले को गोनाय, अश्व ले जाने वाला अश्वनाय और पुरुष को ले जाने वाले राजा को पुरुषनाय कहते हैं। ठीक वैसे ही जल को भोजन (अशन) ले जाने के कारण ‘अशनाय’ कहकर बुलाते हैं। हे प्रिय सोम्य! उस जल के द्वारा ही तुम इस शरीर रूपी अङ्कुर को प्रकट हुआ समझो॥ ३॥

**तस्य क्वं मूलः स्यादन्यत्राद्वादेवमेव खलु सोम्यान्नेन शुद्धेनापो मूलमन्विच्छाद्धिः सोम्य शुद्धेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुद्धेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥ ४ ॥**

अन्न के अतिरिक्त इस शरीर का मूल और क्या है? हे सोम्य! तुम तेज को अन्न रूप कर्म का मूल समझो। तेजरूपी कार्य का मूल सत् तत्त्व को जानो। इस प्रकार से ये समस्त प्राणी सत् रूप मूल वाले ही हैं अर्थात् सत् ही एक मात्र आश्रय तथा प्रतिष्ठा है॥ ४॥

**अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम तेज एव तत्पीतं नयते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज आचष्ट उदन्येति तत्रैतदेव शुद्धमुत्पतितः सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥ ५ ॥**

जब मनुष्य पिपासित (प्यासा) होकर जल ग्रहण करता है, तब उस (जल) को तेज ही अन्दर ले जाता है। अतः जैसे ‘गोनाय’, ‘अशनाय’, ‘पुरुषनाय’ कहे गये हैं, ठीक वैसे ही तेज को उस समय जल को ले जाने वाला कहते हैं। हे सोम्य! इस कारण से इस शरीर को जलरूपी मूल से प्रकट हुआ समझो, क्योंकि बिना क्रिया के प्रतिक्रिया नहीं हो सकती॥ ५॥

[ शरीर की चयापचय प्रक्रिया (मैटाबालिज्म) में शरीर के प्रत्येक कोश तक अन्न को जल तथा जल को काय विद्युत् (बायो इलैक्ट्रोसिटी) द्वारा संचरित किये जाने का तथ्य वर्तमान शरीर विज्ञान स्वीकार कर चुका है। उसी प्रक्रिया को क्रष्ण अपने ढंग से समझा रहे हैं। ]

**तस्य क्वं मूलः स्यादन्यत्राद्धयोऽद्धिः सोम्य शुद्धेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुद्धेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्त्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्तिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाइमनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम् ॥ ६ ॥**

हे प्रिय सोम्य! जल द्वारा प्रकट हुए शरीर का मूल स्थान कहाँ हो सकता है? जल का मूल तेज में और तेज का मूल सत् में होता है। ये सभी प्राणी सत् रूपी मूल वाले, सत् रूपी उदगम स्थल वाले और सत् रूपी अन्न वाले हैं। हे सोम्य! तीनों (अन्न, जल और तेजरूपी) देवता पुरुष के शरीर में प्रविष्ट होकर विभिन्न भागों में बँट जाते हैं। उद्घालक ने कहा- यह मैंने पूर्व में स्पष्ट कर दिया था। इसी कारण से मृत्यु में और तेज परदेवता में मिल जाता है॥ ६॥

**स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदः सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ७ ॥**

हे सोम्य! वह अणिमा (सूक्ष्मविद्या) है, वही सब कुछ है। वही आत्मा है एवं तुम भी वही हो। तत्पश्चात् श्वेतकेतु ने पुनः निवेदन किया- हे भगवन्! फिर से समझाने की कृपा करें। तब उसके पिता ने 'अच्छा' कहते हुए पुनः समझाने का आश्वासन दिया ॥ ७ ॥

## ॥ नवमः खण्डः ॥

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान्समवहारमेकतां रसं गमयन्ति ॥ १ ॥

उद्घालक ने पुनः श्वेतकेतु से कहा- हे सोम्य! जिस तरह मधुमक्खियाँ शहद प्राप्त करने के लिए विभिन्न दिशाओं के वृक्षों, पुष्टों से रस लाकर मधु के रूप में एकत्रित कर देती हैं ॥ १ ॥

ते यथा तत्र न विवेकं लभन्ते ऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति ॥ २ ॥

मधु के रूप में एकता को प्राप्त हुए, वे सभी रस जिस प्रकार यह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते कि मैं अमुक वृक्ष का रस हूँ। ठीक इसी भाँति यह समस्त प्रजा सत् को प्राप्त करने के उपरान्त यह नहीं कहती, कि हमने सत् तत्त्व प्राप्त कर लिया है ॥ २ ॥

त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृक्षो वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्ववन्ति तदाभवन्ति ॥ ३ ॥

इस समस्त लोक में व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, बराह, कीट- पतङ्ग, दंश अथवा मच्छर आदि जो पहले प्रादुर्भूत होते हैं, वे ही बार-बार उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदः सर्वं तत्पत्यः स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ४ ॥

वह जो यह अणिमा (सूक्ष्म प्रक्रिया) आदि है, यह सब तदनुरूप ही है। वह ही सत्य है, वही आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तुम भी हो। ऐसा अपने पिता के द्वारा कहे जाने पर उसने कहा- हे भगवन्! मुझे पुनः बताने की कृपा करें। इस प्रकार से उसके पिता उद्घालक ने उसे फिर से समझाने का आश्वासन दिया ॥

## ॥ दशमः खण्डः ॥

इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति स समुद्र एव भवति ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीति ॥ १ ॥

उद्घालक ने पुनः समझाते हुए कहा - हे सोम्य! ये पूरब एवं पश्चिम दिशा की ओर प्रवाहित होने वाली नदियाँ अपने अनुकूल मार्गों से प्रवाहित होती हैं। उनका समुद्र से ही आगमन होता है और अन्त में उसी समुद्र में ही समाहित हो जाती हैं। जिस तरह वे नदियाँ, सागर में विलीन होकर यह नहीं जानतीं कि मैं अमुक-अमुक नदी हूँ ॥ १ ॥

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगत्य न विदुः सत आगच्छामह इति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृक्षो वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्ववन्ति तदाभवन्ति ॥ २ ॥

ठीक उसी तरह यह सम्पूर्ण प्रजा भी सत् तत्त्व से प्रकट होकर, यह नहीं समझ पाती कि हम सभी का सत् तत्त्व से ही आगमन हुआ है। वे सभी यहाँ पर व्याघ्र, सिंह, भेदिया, वराह, कीट-पतङ्ग, डाँस अथवा मच्छर आदि के रूप में प्रकट होते हैं, पुनः अपने पूर्व स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं ॥ २ ॥

**स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदः सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥**

आरुण ने कहा- हे श्वेतकेतु! यही अणिमा (अणुरूप) आदि से युक्त आत्मा वाला जगत् है तथा तुम भी वही हो। उसने अपने पिता से पुनः समझाने की प्रार्थना की। पिता उद्दालक ने 'अच्छा' कहते हुए फिर से समझाने के लिए कहा ॥ ३ ॥

## ॥ एकादशः खण्डः ॥

**अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्ववेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवस्त्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवस्त्रवेत्स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥ १ ॥**

(उहोंने वृक्ष के दृष्ट्यान्त द्वारा पुनः समझाते हुए कहा- ) हे सोम्य ! यदि किसी विशाल वृक्ष की जड़ में प्रहार करें, तो वह शुष्क न होकर जीवन धारण करते हुए मात्र रस ही स्वित करेगा। ठीक वैसे ही यदि उस (वृक्ष) के मध्य भाग पर आघात किया जाए, तब भी वह जीवित रहते हुए रस टपकाता रहेगा और यदि इसके ऊर्ध्व भाग में प्रहार किया जाए, तब भी वह जीवित रहते हुए रस-स्राव ही करता रहेगा। (इससे यह सिद्ध होता है कि) यह वृक्षरूपी जीव- आत्मा से परिपूर्ण जल का पान करता हुआ आनन्दानुभूति करते हुए स्थिर रहता है ॥ १ ॥

**अस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्पति द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्पति तृतीयां जहात्यथ सा शुष्पति सर्वं जहाति सर्वः शुष्पत्येवमेव खलु सोम्य विद्वीति होवाच ॥ २ ॥**

हे सोम्य ! किसी वृक्ष की एक शाखा को जीव परित्याग कर देता है, तो वह शुष्क हो जाती है। यदि दूसरी शाखा चेतना शून्य हो जाए, तो वह भी शुष्क हो जाती है। यदि तृतीय शाखा को जीव आघात करने पर छोड़ दे, तो वह भी सूख जाती है और यदि ऐसे ही सम्पूर्ण वृक्ष का ही जीव उत्क्रमण कर जाता है, तो वह वृक्ष पूर्णरूपेण शुष्क हो जाएगा ॥ २ ॥

**जीवापेतं वाव किलेदं प्रियते न जीवो प्रियत इति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदः सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥**

हे सोम्य ! ठीक ऐसे ही यह वृक्षरूपी शरीर जीवन तत्त्व से रहित होते ही नष्ट हो जाता है, किन्तु जीव का नाश नहीं होता, ऐसे सूक्ष्म भाव से सम्पन्न आत्म-तत्त्व से परिपूर्ण यह जगत् है। यह सत्य है और हे सोम्य ! इसी तरह तुम भी सत्य तत्त्व से पूर्ण हो। श्वेतकेतु ने निवेदन किया- भगवन् ! पुनः समझाएँ। पिता ने 'अच्छा' कहकर उसे आश्वस्त किया ॥ ३ ॥

## ॥ द्वादशः खण्डः ॥

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति भिन्द्रीति भिन्नं भगव इति किमत्र  
पश्यसीत्यण्व्य इवेमा धाना भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्द्रीति भिन्ना भगव इति किमत्र  
पश्यसीति न किंचन भगव इति ॥ १ ॥

हे सोम्य ! इस सामने विद्यमान महान् वट वृक्ष से एक फल तोड़कर ले आओ । ऐसा सुनते ही वह (श्वेतकेतु) शीघ्रता से फल को ले आया । आरुण ने पुनः कहा- 'इसे तोड़ दो ।' तोड़ते हुए श्वेतकेतु बोला- 'भगवन् ! तोड़ दिया ।' आरुण ने कहा इसके अन्दर क्या दिखाई दे रहा है ? श्वेतकेतु बोला- इसके भीतर ये अणु के सदृश दाने दिखाई दे रहे हैं । आरुण ने फिर कहा- इन दानों में से एक को लेकर तोड़ दो । श्वेतकेतु बोला- भगवन् ! तोड़ दिया । आरुण ने कहा कि 'इसके अन्दर क्या देखते हो ?' श्वेतकेतु ने उत्तर दिया- हे भगवन् ! मुझे इसके अन्दर कुछ भी नहीं दिखाई पड़ रहा है ॥ १ ॥

तः होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं  
महान्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येति ॥ २ ॥

तब उद्दालक ने कहा- हे सोम्य ! इस वट के बीज के अन्दर जिस अति सूक्ष्म अणु रूप को तुम नहीं देख सकते हो, उसमें इतना विशाल वृक्ष स्थिर है । अतः हे सोम्य ! मेरे द्वारा बताये हुए इस कथन पर श्रद्धापूर्वक विश्वास करो ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदः सर्वं तत्सत्यः स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय  
एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

हे सोम्य ! इस वट वृक्ष का जो यह अणु रूप है, तदनुरूप ही यह सब सूक्ष्म जगत् है । वही सत्य है और हे श्वेतकेतो ! वही तत्त्व तुम स्वयं हो । उद्दालक के ऐसा कहने पर श्वेतकेतु ने पुनः निवेदन किया- भगवन् ! कृपया मुझे फिर से बताने का अनुग्रह करें । तब उद्दालक ने उसे 'अच्छा' कहते हुए पुनः आश्वस्त किया ॥

## ॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति स ह तथा चकार तः होवाच  
यद्योषा लवणमुदकेऽवाधा अङ्गं तदाहरेति तद्वावृत्य न विवेद ॥ १ ॥

उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को फिर से समझाते हुए कहा- 'हे सोम्य ! इस पिण्ड रूपी नमक के टुकड़े को जल-पात्र में डालकर अगले दिन प्रातःकालीन वेला में पुनः उपस्थित होना ।' ऐसा सुनकर अपने पिता के आदेशानुसार वह दूसरे दिन उपस्थित हुआ । तब उद्दालक ने कहा- हे पुत्र ! विगत रात्रि में जिस लवण को तुमने जल में मिश्रित किया था, 'उसे ले आओ ।' परन्तु ढूँढ़ने पर उस नमक को वह नहीं प्राप्त कर सका ॥ १ ॥

यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति कथमिति लवणमिति मध्यादाचामेति कथमिति  
लवणमित्यन्तादाचामेति कथमिति लवणमित्यभिप्रास्यैनदथ मोपसीदथा इति तद्वत्था चकार  
तच्छश्वत्संवर्तते तः होवाचात्र वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति ॥ २ ॥

हे सोम्य ! तुम इस जल में मिले हुए नमक के अंश को नहीं देख सकते हो, फिर भी यदि जिज्ञासा हो तो इस जल को ऊपर से लेकर आचमन के रूप में ग्रहण करो । आचमन के उपरान्त पिता द्वारा पूछने पर उसने कहा 'नमकीन' अर्थात् खारा है । पिता ने कहा कि अब जल पात्र के मध्य में से जल लेकर पीते हुए बताओ कैसा है ? उसने फिर कहा

'नमकीन है।' तत्पश्चात् पिता के कहने पर जल पात्र के नीचे से जल लेकर पान किया। पिता के द्वारा 'कैसा है?' पूछने पर उसने बताया कि 'नमकीन है।' उद्दालक ने कहा- 'अच्छा तुम इस जल को बाहर फेंक कर हमारे पास आ जाओ।' उसने पिता के कहने पर वैसा ही किया और कहा उस सम्पूर्ण जल में नमक पूर्ण रूप से मिला हुआ था। तत्पश्चात् आरुणि ने कहा- हे सोम्य! ठीक इसी प्रकार तुम सत् तत्त्व को देखने में असमर्थ हो, फिर भी वह यहाँ पर पूर्ण रूप से विद्यमान है॥ २॥

**स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदः सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥**

आरुणि ने कहा- हे सोम्य! इसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् अति सूक्ष्म रूप से सत् तत्त्व आत्मा में विद्यमान है, यही सत्य है। हे श्वेतकेतो! ठीक वैसे ही तुम स्वयं भी सत्य स्वरूप हो। तब उसने फिर कहा भगवन्! आप पुनः समझाएँ। पिता ने अच्छा कहकर पुनः उसे आश्वस्त किया॥ ३॥

### ॥ चतुर्दशः खण्डः ॥

**यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्वाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राइवोदइवाधराइवा प्रत्यइवा प्रध्मायीताभिनद्वाक्ष आनीतोऽभिनद्वाक्षो विसृष्टः ॥ १ ॥**

उद्दालक ने पुनः एक पुरुष के दृष्टान्त द्वारा श्वेतकेतु को समझाते हुए कहा- हे सोम्य! जिस प्रकार किसी पुरुष की आँखें बाँधकर गान्धार देश से अन्यत्र किसी निर्जन क्षेत्र में लाकर छोड़ दें, तो वह वहाँ चतुर्दिक् पूर्व, उत्तर, दक्षिण तथा पश्चिम दिशा की ओर मुँह करके करुण क्रन्दन करता है। वह चिल्हाते हुए कहता है कि मुझे आँखें बाँधकर यहाँ लाकर छोड़ दिया गया है॥ १॥

**तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं ब्रजेति स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावत्र विमोक्ष्येऽथ संपत्य इति ॥ २ ॥**

यदि कोई दूसरा पुरुष वहाँ आकर उसकी आँखों के बन्धन खोलकर उसे यह बतलाये कि 'गान्धार' अमुक दिशा में है। अमुक की ओर प्रस्थान कर जाओ। तब वह बुद्धिमान् एवं उपदिष्ट हुआ व्यक्ति एक गाँव से दूसरे गाँव को पूछते हुए क्रमशः अपने मूल स्थान यानी गान्धार देश को प्राप्त कर लेता है। ठीक वैसे ही इस लोक में सदाचारवान् व्यक्ति ही सत् को समझ पाता है। उस व्यक्ति को मोक्ष प्राप्ति में उतनी ही देर लगती है, जितने तक शरीर के बन्धन से मुक्ति नहीं मिल जाती। इसके अनन्तर तो वह पुरुष सत् युक्त ब्रह्म के अनुरूप हो जाता है अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है॥ २॥

**स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदः सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥**

हे सोम्य! यह समस्त जगत् अणु रूप सूक्ष्म सत् तत्त्व से युक्त है। वह ही सत् स्वरूप है। वह ही आत्म स्वरूप है। हे श्वेतकेतो! तुम भी उसी सत् तत्त्व से युक्त हो। इस प्रकार सुनते ही उस (श्वेतकेतु)ने कहा- भगवन्! पुनः बताने की कृपा करें। तब उद्दालक ने अच्छा कहते हुए उसे पुनः आश्वस्त किया॥ ३॥

### ॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

**पुरुषः सोम्योतोपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति । तस्य यावत्र वाइमनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति ॥ १ ॥**

हे सोम्य ! ज्वरादि से अत्यधिक संतस एवं मरणासन्न स्थिति में पहुँचते हुए पुरुष के चारों ओर उसके बन्धु-बाध्य एवं निकट परिवारीजन बैठकर पूछते हैं - क्या तुम मुझे पहचानते हो ? क्या तुम मुझे जानते हो ? तो उस व्यक्ति की वाणी जब तक मन में लीन नहीं होती, मन प्राण में, प्राण तेज में तथा तेज परमदेव तत्त्व में विलीन नहीं हो जाता, तब तक वह सबको जानता रहता है ॥ १ ॥

**अथ यदास्य वाइमनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ।**  
तदनन्तर जब उस व्यक्ति की वाणी मन में विलीन हो जाती है, मन प्राण में, प्राण तेज में एवं तेज उस परमदेव तत्त्व में मिल जाता है, तब वह व्यक्ति किसी को भी पहचान पाने में असमर्थ रहता है ॥ २ ॥

**स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदः सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥**

हे सोम्य ! वह (अणुरूप) जो अणिमा आदि तत्त्व है, तदनुरूप ही यह सब कुछ है। वही सत्य है और वही आत्मतत्त्व है। हे सोम्य ! उसी सत् तत्त्व से युक्त स्वयं तुम भी हो। उद्गालक के इस तरह कहने पर श्वेतकेतु ने कहा-हे भगवन् ! पुनः बताने की कृपा करें। तब उसके पिता ने 'अच्छा' कहते हुए उसे आश्वस्त किया ॥ ३ ॥

## ॥ षोडशः खण्डः ॥

**पुरुषः सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत्स्तेयमकार्षीत्परशुमस्मै तपतेति स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तसं प्रतिगृह्णाति स दद्यतेऽथ हन्यते ॥ १ ॥**

(आसुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को अपराधी व्यक्ति द्वारा तस कुल्हाड़े को ग्रहण करने के उदाहरण द्वारा समझाते हुए कहते हैं) - हे सोम्य ! जब किसी दोषी व्यक्ति को हाथ बाँधकर (राज्य कर्मचारी) लाते हुए कहते हैं कि 'इसने चोरी की है', इसके लिए परशु तस करो। वह यदि सचमुच उसका (चोरी का) करने वाला होता है तथा असत्य भाषण कर, अपने किये हुए कृत्य को आवरण में रखता है, तो उस तस परशु को ग्रहण करते ही, वह जलते हुए मृत्यु को प्राप्त होता है ॥ १ ॥

**अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स तत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तसं प्रतिगृह्णाति स न दद्यते ऽथ मुच्यते ॥ २ ॥**

यदि वह व्यक्ति चोरी करने वाला नहीं होता, तो उसी परशु से स्वयं को सत्य प्रमाणित करता है। वह अपने आप को सत्य से ढककर उस परशु को पकड़ लेता है और जब उस परशु से नहीं जलता, तो छोड़ दिया जाता है ॥

[इस समय अपने भाव से स्वयं को आवृत कर लेने की क्षमता लुप्तप्राय हो गयी है, फिर भी उसके प्रमाण मिलते हैं। किसी पीड़ित व्यक्ति की सहायता करते समय वास्तविक प्रेम सम्पन्न व्यक्ति को कष्ट नहीं होता; किन्तु प्रेम का ढांग करने वाले को कष्ट अनुभव होता है।]

**स यथा तत्र नादाह्येतैतदात्म्यमिदः सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति तद्वास्य विज्ञाविति विज्ञाविति ॥ ३ ॥**

हे सोम्य ! जैसे वह व्यक्ति उस परीक्षा के समय तस परशु से नहीं जलता है, वैसे ही सत् तत्त्व को प्राप्त करने वाले विद्वान् पुनर्जन्म से मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। यह समस्त विश्व सत् स्वरूप है। वह ही आत्मा है। हे श्वेतकेतो ! उसी सत् तत्त्व से सम्पन्न तुम स्वयं हो। तब श्वेतकेतु ने कहा भगवन् ! मैं उस सत् तत्त्व को जान गया हूँ - जान गया हूँ ॥

## ॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

### ॥ प्रथमः खण्डः ॥

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तः होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति ॥ १ ॥

एक बार ब्रह्मर्षि नारद जी ब्रह्मनिष्ठ योगेश्वर सनत्कुमार जी के समक्ष उपस्थित होकर बोले- हे भगवन्! मुझे उपदेश प्रदान करने की कृपा करें। उनसे सनत्कुमार जी ने कहा- सर्वप्रथम जो तुम जानते हो, उसे बतलाते हुए हमारे पास उपदेश श्रवण करने के लिए आओ, तो उससे आगे का ज्ञान मैं तुम्हें दूँगा ॥१ ॥

स होवाचर्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदः सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यः राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां भूत्रविद्यां नक्षत्रविद्याः सर्पदेवजनविद्यामेतद्गवोऽध्येमि ॥ २ ॥

(नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्वेद का अध्ययन कर लिया है। इसके अतिरिक्त इतिहास, पुराण के रूप में पञ्चम वेद, वेदों का वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातविद्या, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेद विज्ञान, भूततंत्र, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या (गारुडमन्त्र), देवजन विद्या (नृत्य-संगीत) आदि इन सभी विद्याओं का अध्ययन कर चुका हूँ॥

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छुतः ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तःहोवाच यद्वै किंचैतदध्यगीष्टा नामैवैतत् ॥ ३ ॥

हे भगवन्! मैं तो केवल मंत्रों में ही पारंगत हूँ अर्थात् शब्दार्थ मात्र ही जानता हूँ। आत्मा के सम्बन्ध में मेरी जानकारी बिल्कुल नहीं है। मैंने आप जैसे श्रेष्ठ योगियों से सुना है कि आत्मज्ञानी शोक से पार करने में समर्थ होते हैं। हे भगवन्! मैं आत्मज्ञान के अभाव में शोक में डूबा रहता हूँ। आप कृपा करके शोक सागर से पार कीजिए। ऐसा सुनकर सनत्कुमार जी ने नारद जी से कहा- हे महर्षे! तुम जो कुछ जानते हो; वह सभी कुछ नाम ही है ॥ ३ ॥

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशिर्देवो निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्या नामैवैतत्रामोपास्वेति ॥ ४ ॥

ऋग्वेद भी नाम है तथा ऐसे ही यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराणादि, वेदों का वेद (व्याकरण) श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातविद्या, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेदविज्ञान, भूतविद्या, धनुर्विद्या, ज्योतिष, सर्पविद्या, संगीत आदि कलाएँ शिल्प विद्या आदि ये सब नाम ही हैं। अतः हे नारद! तुम नाम की ही उपासना करो ॥ ४ ॥

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भूय इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तम्ये भगवान्नवीत्विति ॥ ५ ॥

जो व्यक्ति नामरूप ब्रह्म की उपासना करता है, उसकी जहाँ तक नाम की गति होती है, वहाँ तक

इच्छानुसार गति हो जाती है। (नारद ने सनत्कुमार जी से कहा- ) हे भगवन्! क्या नाम के अतिरिक्त भी कुछ है? सनत्कुमार ने कहा- हाँ नाम से भी अधिक है? तब महर्षि नारद जी ने कहा - हे भगवन्! तो फिर मुझे वही बताने की कृपा करें॥५॥

## ॥ द्वितीयः खण्डः ॥

वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यः राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याः सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाःश्च मनुष्याःश्च पशूःश्च वयाःसि च तृणवन - स्पतीञ्छापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं धर्म चाधर्म च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं च यद्वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाथर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं च साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्वेति ॥ १ ॥

(सनत्कुमार ने कहा- ) वाणी नाम से अधिक श्रेष्ठ है, वाणी ही ऋग्वेद को प्रकाशित करती है। यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ अथर्ववेद, पाँचवाँ वेद इतिहास-पुराण, वेदों के वेद व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पात विज्ञान, नीतिशास्त्र, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, निरुक्त, वेद विज्ञान, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्योतिष्, सर्पविद्या, संगीत-शिल्प आदि शास्त्र, घुलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मानव, पशु-पक्षी, तृण-वनस्पति, हिंस जन्तु, कीट-पतंगे, चींटी आदि प्राणी, धर्म और अधर्म, सत्य एवं असत्य, साधु तथा असाधु, अच्छा एवं बुरा, प्रिय एवं अप्रिय आदि का ज्ञान वाणी द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। वाणी ही इन सबको ज्ञापित करती है, इसलिए हे नारद! तुम वाणी की ही उपासना करो ॥ १ ॥

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो वाचो भूय इति वाचो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥

हे महर्षि नारद! वह (साधक) जो वाणी को 'यह ब्रह्म है' ऐसा मानकर उस ब्रह्मरूप की उपासना करता है, उसकी जहाँ तक वाणी के विषय हैं, वहाँ तक इच्छानुसार गति होती है। (तब नारद ने कहा) हे योगेश्वर! वाणी से भी अधिक कुछ है क्या? (सनत्कुमार जी ने कहा)- हाँ है, वाणी से भी बढ़कर है। नारद ने कहा- भगवन्! मुझे वही बताने की कृपा करें॥२॥

## ॥ तृतीयः खण्डः ॥

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वामलके द्वे वा कोले द्वौ वाक्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते पुत्राःश्च पशूःश्चेच्छेयेत्यथेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्वेति ॥ १ ॥

योगेश्वर सनत्कुमार जी कहते हैं- 'मन' वाणी से अधिक श्रेष्ठ है। जिस तरह से दो आँखें, दो बेर अथवा दो बहेड़े मुट्ठी के अन्दर आ जाते हैं, उसी तरह वाणी और नाम की अनुभूति मन करता है। जिस समय मनुष्य मन से विचार करता है कि 'मंत्रों को पढ़ूँ' उसी समय वह पढ़ता है। वह जब सोचता है कि

'कार्य करूँ', तभी कार्य करता है, जब पुत्र और पशुओं की इच्छा करता है, उसी समय वह उनको प्राप्त करता है तथा जब वह संकल्प करता है कि इस लोक एवं दूसरे लोक के वैभव को प्राप्त करूँ, तभी वह उसको प्राप्त करता है। मन ही आत्मा, मन ही लोक एवं मन ही ब्रह्म है। अतः हे नारद! तुम इस श्रेष्ठ मन की उपासना करो ॥ १ ॥

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो मनो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसो भूय इति मनसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥

जो व्यक्ति मन को 'यह ब्रह्म है' ऐसा मानकर उसकी ब्रह्म के रूप में उपासना करता है, वह व्यक्ति जहाँ तक मन की गति है, वहाँ तक अपनी इच्छा से गतिशील हो जाता है। (नारद ने कहा-) हे भगवन्! क्या मन से भी बढ़कर कोई है? (सनत्कुमार ने कहा-) हाँ मन से भी बढ़कर है। (तब नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! मुझे उसी का उपदेश प्रदान करने की कृपा करें ॥ २ ॥

## ॥ चतुर्थः खण्डः ॥

संकल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥

सनत्कुमार जी ने कहा- 'संकल्प' मन से अधिक श्रेष्ठ है। जब व्यक्ति संकल्प करता है, तभी वह बोलने की इच्छा करते हुए वाक् शक्ति को प्रेरणा प्रदान करता है। वह उसको नाम के प्रति प्रवृत्त करता है। नाम के अन्तर्गत ही सभी मंत्र एकाकार हो जाते हैं तथा मन्त्रों में ही सभी कर्म एकरूप हो जाते हैं ॥ १ ॥

तानि ह वा एतानि संकल्पैकायनानि संकल्पात्मकानि संकल्पे प्रतिष्ठितानि समक्लृप्तां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्शाकाशं च समकल्पन्तापश्च तेजश्च तेषाः संकलृप्त्यै वर्षः संकल्पते वर्षस्य संकलृप्त्या अन्नःसंकल्पतेऽन्नस्य संकलृप्त्यै प्राणाः संकल्पन्ते प्राणानाः संकलृप्त्यै मन्त्राः संकल्पन्ते मन्त्राणाः संकलृप्त्यै कर्माणि संकल्पन्ते कर्मणाः संकलृप्त्यै लोकः संकल्पते लोकस्य संकलृप्त्यै सर्वः संकल्पते स एष संकल्पः संकल्पमुपास्त्वेति ॥ २ ॥

(हे नारद!) सर्वप्रथम जो मन, वाणी आदि का वर्णन किया गया है, वह संकल्परूप, संकल्पमय और अपने संकल्प में प्रतिष्ठित है। स्वर्ग एवं पृथिवी संकल्प करने वाले प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार वायु तथा आकाश, जल और तेज भी संकल्प बल से युक्त हैं। इन सभी के संकल्प बल से वृष्टि को सामर्थ्य प्राप्त होती है। (अथवा उन द्युलोक एवं पृथिवी के संकल्प से वृष्टि होती है।) वृष्टि के संकल्प से अन्न को समर्थता मिलती है। अन्न के संकल्प से प्राण समर्थ होते हैं। प्राणों के संकल्प से मन्त्र समर्थ होते हैं। मन्त्रों के संकल्प से कर्मों को सामर्थ्य मिलती है एवं कर्मों के संकल्प से लोक (फल) समर्थ होता है। हे नारद! तुम ऐसे ही इस श्रेष्ठ संकल्प की उपासना करो ॥ २ ॥

स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते क्लृप्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति यावत्संकल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः संकल्पाद्बूय इति संकल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ ३ ॥

(हे नारद !) जो व्यक्ति यह संकल्प 'यही ब्रह्म है', ऐसा जानकर उसकी उपासना करता है, वह विधाता द्वारा रचित ध्रुवलोकों को स्वयं ध्रुवरूप होकर, प्रतिष्ठित लोकों को स्वयं प्रतिष्ठित होकर तथा पीड़ा रहित लोकों को स्वयं पीड़ा रहित होकर पूर्णरूपेण प्राप्त करता है। जिस स्थान तक संकल्प की गति होती है, वहाँ तक उसकी इच्छानुसार गति हो जाती है। तब नारद जी ने पूछा - हे भगवन् ! क्या संकल्प से भी कुछ श्रेष्ठ है ? सनकुमार जी ने कहा - हाँ है, संकल्प से भी श्रेष्ठ है। (नारद ने कहा) हे भगवन् ! मुझे उसी (श्रेष्ठ तत्त्व) का उपदेश करें ॥ ३ ॥

## ॥ पञ्चमः खण्डः ॥

चित्तं वाव संकल्पाद्वयो यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति  
तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥

(हे नारद !) 'चित्त' संकल्प से अधिक श्रेष्ठ है। जब व्यक्ति चिन्तन से युक्त होता है, तभी संकल्प करता है। तदनन्तर इच्छा करते हुए वाणी एवं नाम को प्रेरित करता है। नाम मन्त्रानुरूप एवं मन्त्र कर्मानुरूप होकर तदाकार हो जाते हैं ॥ १ ॥

तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि तस्माद्यद्यपि  
बहुविदचित्तो भवति नायमस्तीत्यैवैनमाहुर्यदयं वेद यद्वा अयं विद्वान्नेत्यमचित्तः स्यादित्यथ  
यद्यल्पविच्चित्तवान्भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते चित्तः ह्यैवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं  
प्रतिष्ठा चित्तमुपास्त्वेति ॥ २ ॥

(हे नारद !) संकल्प, मन, वाणी, मन्त्र, कर्म आदि सभी चित्त में विलीन होने वाले, चित्त द्वारा प्रकट होने वाले एवं चित्त में ही स्थिर होने वाले होते हैं। यदि कोई व्यक्ति विशेष रूप से विद्वान् होते हुए भी अचित्त (अर्थात् चिन्तनशीलता से रहित) हो, तो प्रायः लोग यही कहते हैं कि यह कुछ भी नहीं है। यदि इसने कुछ सुना होता और इसमें विद्वत्ता होती, तो इस तरह से अचित्त नहीं होता। कोई व्यक्ति कर्म विद्वान् होकर भी यदि चित्तयुक्त होता है, तो लोग उसकी बात सुनना चाहते हैं। इस प्रकार हे नारद ! चित्त ही संकल्प का (एक मात्र) उत्पत्ति केन्द्र है। तुम चित्त की ही उपासना करो ॥ २ ॥

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितो  
ज्यथमानान्यथमानोऽभिसिद्ध्यति यावच्चित्तस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति  
यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते ऽस्ति भगवश्चित्ताद्वय इति चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे  
भगवान्ब्रवीत्विति ॥ ३ ॥

हे नारद ! इस तरह से जो व्यक्ति चित्त की ब्रह्म रूप में उपासना करता है, वह चित्त (अर्थात् बुद्धि युक्त गुणों) से उपचित हुए ध्रुवलोकों को स्वयं ध्रुव होकर, प्रतिष्ठित लोकों को स्वयं प्रतिष्ठित होकर और कष्ट न पाने वाले लोकों को स्वयं पीड़ा (कष्ट) न प्राप्त करते हुए सहजता से प्राप्त कर लेता है। जहाँ तक चित्त का विषय (गति) है, वहाँ तक उसकी इच्छानुरूप गति हो जाती है। (नारद जी ने पूछा - ) हे भगवन् ! क्या चित्त से भी कुछ श्रेष्ठ है ? ( सनकुमार जी ने कहा - ) हाँ है, चित्त से भी श्रेष्ठ है। तब नारद जी ने कहा - हे भगवन् ! मुझे वही बताने का अनुग्रह करें ॥ ३ ॥

## ॥ षष्ठः खण्डः ॥

ध्यानं वाव चित्ताद्बूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव  
द्यौधर्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्यास्तस्माद्य इह मनुष्याणां महतां  
प्राप्नुवन्ति ध्यानापादाऽशा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्तेऽथ  
ये प्रभवो ध्यानापादाऽशा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्त्वेति ॥ १ ॥

(हे नारद !) चित्त से उत्कृष्टतम स्थिति ध्यान की है। (ऐसा प्रतीत होता है कि) मानो पृथिवी ध्यान करती है, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक भी मानो ध्यान में रत हैं, जल और पर्वत भी मानो ध्यान में तल्लीन हैं, देवता और मानव भी मानो ध्यान करते हैं। इसलिए जो भी यहाँ पुरुषों में महानता को प्राप्त किये हुए हैं, वे भी शायद ध्यान के द्वारा अर्जित किये हुए लाभ का अंश प्राप्त करते हैं; किन्तु जो संकीर्ण विचार के होते हैं, वे कलह करने वाले, चुगलखोर और दूसरों के समक्ष ही उनकी निन्दा करने वाले होते हैं। साथ ही जो सामर्थ्य से युक्त हैं, वे लोग भी ध्यान के ही लाभ का अंश अर्जित करने वाले हैं। अतः (हे नारद !) तुम ध्यान की ही उपासना करो ॥ १ ॥

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्ब्रह्मानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो ध्यानं  
ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ध्यानाद्बूय इति ध्यानाद्बाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥

(हे नारद !) जो व्यक्ति ध्यान को 'यह ब्रह्म ही है', इस प्रकार से समझकर उसकी उपासना करता है, उसकी स्वेच्छानुसार गति ध्यान की गति के समान ही हो जाती है। (ऐसा सुनकर नारद जी ने पूछा) हे भगवन् ! क्या ध्यान से भी श्रेष्ठ कुछ है ? (तब सनकुमार जी ने कहा-) हाँ, ध्यान से भी श्रेष्ठ है। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन् ! कृपया उसी श्रेष्ठ तत्त्व का उपदेश करने की कृपा करें ॥ २ ॥

## ॥ सप्तमः खण्डः ॥

विज्ञानं वाव ध्यानाद्बूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदः सामवेदमाथर्वणं  
चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यः राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां  
ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याः सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं  
चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाःश्च मनुष्याःश्च पशुःश्च वयाःसि च तृणवनस्पती-  
ज्ञ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं  
चाहृदयज्ञं चान्नं च रसं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्त्वेति ॥

(हे नारद !) ध्यान से भी अधिक श्रेष्ठ 'विज्ञान' है। विज्ञान द्वारा ही मनुष्य ऋग्वेद को जानता है। यजुर्वेद, सामवेद और चतुर्थ अथर्ववेद, पञ्चम वेद इतिहास-पुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, देवविद्या (निरुक्त), ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्योतिष, सर्पविद्या, शिल्पविद्या, द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु-पक्षी, तृण, वनस्पति, श्वापद, कीट-पतंग, पिपीलिका पर्यन्त समस्त जीव, धर्म, अधर्म, सत्य, पशु-पक्षी, तृण, वनस्पति, श्वापद, कीट-पतंग, पिपीलिका पर्यन्त समस्त जीव, धर्म, अधर्म, सत्य, असत्य, साधु, असाधु, मनोज्ञ, अमनोज्ञ, अन्न, रस तथा इहलोक एवं परलोक आदि को विज्ञान द्वारा ही जाना जाता है। (इसलिए हे नारद !) तुम विज्ञान की ही उपासना करो ॥ १ ॥

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकाज्ञानवतोऽभिसिद्ध्यति  
यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते ऽस्ति भगवो  
विज्ञानाद्भूय इति विज्ञानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

(हे नारद!) जो (व्यक्ति) विज्ञान की ब्रह्म के रूप में उपासना करता है, वह व्यक्ति श्रेष्ठ विज्ञान और  
ज्ञान वाले लोकों को प्राप्त कर लेता है। जहाँ तक विज्ञान का सम्बन्ध है, वहाँ तक उसकी यथेच्छगति होती  
है। नारद जी ने कहा- हे भगवन्! क्या विज्ञान से भी श्रेष्ठ कुछ है? सनत्कुमार ने कहा- हाँ है। नारद जी  
ने कहा- भगवन्! मुझे उसी श्रेष्ठ तत्त्व का उपदेश करने की कृपा करें ॥ २ ॥

## ॥ अष्टमः खण्डः ॥

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते । स यदा  
बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन्परिचरिता भवति परिचरन्प्रपसत्ता भवत्युपसीदन्प्रष्टा  
भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति । बलेन वै  
पृथिवी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशावश्च  
वयाःसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं बलेन लोकस्तिष्ठति  
बलमुपास्त्वेति ॥ १ ॥

(हे नारद!) बल विज्ञान से भी अधिक श्रेष्ठ है। सौ विज्ञानवेत्ताओं को एक बलवान् व्यक्ति कँपा देता  
है। जिस समय यह मनुष्य बल-सम्पन्न होता है, तभी उठने वाला भी होता है और जब उठता है, तो वह  
सेवा-शुश्रूषा करने वाला होता है, जब सेवा-शुश्रूषा वाला होता है, तो समीप जाने वाला होता है, समीप  
पहुँचने से दर्शन, श्रवण, मनन, जानने, अनुष्ठान एवं अनुभव करने वाला होता है। बल से ही पृथिवी स्थित  
है, बल से ही अन्तरिक्ष, बल से ही द्युलोक, बल से ही पर्वत, देवता और मनुष्य, बल से ही पशु-पक्षी,  
तृण वनस्पति, श्वापद और कीट-पतंग एवं पिपीलिका पर्यन्त समस्त प्राणि-समुदाय स्थित हैं तथा बल से  
ही लोक स्थित है। इसलिए हे नारद! तुम बल की उपासना करो ॥ १ ॥

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्बलस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो बलं  
ब्रह्मेत्युपास्ते ऽस्ति भगवो बलाद्भूय इति बलाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥

(हे नारद!) जो (व्यक्ति) बल को ब्रह्म के रूप में जानकर उसकी उपासना करता है, तो जहाँ तक  
बल की गति है, वहाँ तक उस (व्यक्ति) की स्वेच्छा गति हो जाती है। (तब नारद जी ने पूछा-) क्या बल  
से अधिक भी कुछ है? (सनत्कुमार ने कहा-) बल से भी श्रेष्ठ है। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! कृपा  
करके मेरे प्रति उसी श्रेष्ठ तत्त्व का वर्णन करें ॥ २ ॥

## ॥ नवमः खण्डः ॥

अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि दशरात्रीर्नाश्रीयाद्यद्युह जीवेदथवाद्रष्टाश्रोता -  
मन्ताबोद्धाकर्ताविज्ञाता भवत्यथान्नस्यायै द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा  
भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवत्यन्नमुपास्त्वेति ॥ १ ॥

(हे नारद!) अन्न बल से अधिक श्रेष्ठ है। यदि कोई व्यक्ति दस दिन तक भोजन न ग्रहण करे और

जीवित रह जाए, तब भी वह दर्शन, श्रवण, मनन, बोध, अनुष्ठान और अनुभव आदि करने में प्रायः असमर्थ ही हो जाता है। पुनश्च यदि उसे अन्न की प्राप्ति होने लगे, तो वह दर्शन, श्रवण, मनन, बोध, अनुष्ठान एवं अनुभूति करने में समर्थ हो जाता है। अतः (हे नारद!) तुम इस श्रेष्ठ अन्न की ही उपासना करो॥ १॥

**स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो भिसिद्ध्यति यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽन्नाद्धूय इत्यन्नाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्नवीत्विति ॥ २॥**

(हे नारद!) जो भी (व्यक्ति) अन्न को ही ब्रह्म के रूप में मानकर उपासना करता है, वह अन्न एवं जल से परिपूर्ण लोकों को प्राप्त करता है। जहाँ तक अन्न की गति है, वहाँ तक वह अपनी इच्छा से पहुँच सकता है। (नारद जी ने पूछा-) हे भगवन्! अन्न से भी उत्कृष्ट कुछ है क्या? (सनत्कुमार जी ने कहा) हाँ है। नारद जी ने कहा- हे भगवन्! मुझे तो उसी श्रेष्ठ तत्त्व का उपदेश करने की कृपा करें॥ २॥

## ॥ दशमः खण्डः ॥

**आपो वावान्नाद्धूयस्यस्तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भविष्यतीत्याप एवेमा मूर्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं यद् द्यौर्यत्पर्वता यदेवमनुष्या यत्पशवश्च वयाःसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकमाप एवेमा मूर्ता अप उपास्वेति ॥ १॥**

(हे नारद!) अन्न की अपेक्षा जल अधिक श्रेष्ठ है। यही कारण है कि जब अधिक वृष्टि नहीं होती, तो प्राण इसलिए व्यथित होते हैं कि अन्न कम होगा तथा जब कभी वर्षा प्रसूर परिमाण में होती है, तो प्राण यह विचार कर प्रसन्न होते हैं कि अन्न बहुत अधिक होगा। यह जो पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, पर्वत, देव-मनुष्य एवं पशु-पक्षी तथा तृण-वनस्पति, श्वापद एवं कीटे-पतंगे, पिपीलिका (चींटी) आदि स्तर के प्राणी हैं, ये सभी मूर्तिमान् जल रूप ही हैं। इसलिए हे नारद! तुम इस श्रेष्ठ जल की ही उपासना करो॥ १॥

**स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान्कामाःसृसिमान्भवति यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽद्धयो भूय इत्यद्धयो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्नवीत्विति ॥ २॥**

(हे नारद!) जो व्यक्ति जल को ब्रह्म समझकर उसकी उपासना करता है, वह सभी मूर्तियुक्त विषयों को प्राप्त करके तृप्त होता है। जहाँ तक जल की गति है, वहाँ तक वह व्यक्ति अपनी इच्छा से पहुँच सकता है। (नारद जी ने पूछा-) हे भगवन्! क्या जल से भी अधिक श्रेष्ठ कुछ है? (सनत्कुमार जी ने कहा-) हाँ, जल से भी श्रेष्ठ है। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! तब उसी श्रेष्ठ तत्त्व को मुझे बताने की कृपा करें॥ २॥

## ॥ एकादशः खण्डः ॥

**तेजो वावाद्धयो भूयस्तद्वा एतद्वायुमागृह्याकाशमभितपति तदाहुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्व दर्शयित्वाथापः सृजते तदेतदूर्धर्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युद्दिग्रहादाश्वरन्ति तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्व दर्शयित्वाथापः सृजते तेज उपास्वेति ॥ १॥**